ब्रह्मवर्चस् साधना की ध्यान-धारणा



लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

द्वितीय बार २००५ मूल्य : १४-०० रुपया

प्रकाशक:
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा



लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



द्वितीय बार : २००५



मूल्य : १४-०० रुपया



मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

विषय-सूची



ब्रह्मवर्चस् साधना का उपक्रम

गायत्री उपासना के तीन चरण हैं-(१) नित्यकर्म, संध्या-वंदन (२) संकल्पित अनुष्ठान पुरश्चरण (३) उच्चस्तरीय योग साधना। नित्यकर्म को अनिवार्य धर्म-कर्तव्य माना गया है। आये दिन अंत:चेतना पर वातावरण के प्रभाव से चढ़ते रहने वाले कषाय-कल्मषों का निराकरण नित्यकर्म से, संध्या-वंदन से होता है। इससे अध:पतन की आशंका पर अंकुश लगता है।

संकल्पित पुरश्चरणों से प्रमुख चेतना उभरती है और फलत: साधक ओजस्वी, मनस्वी, तेजस्वी बनता है। साहस और पराक्रम की अभिवृद्धि आत्मिक एवं भौतिक क्षेत्र में अनेकानेक सफलताओं का पथ प्रशस्त करती है। विशेष प्रयोजनों के लिए किए गए पुरश्चरणों की सफलता इसी संकल्प-शक्ति के सहारे उपलब्ध होती है, जिसे प्रतिज्ञाबद्ध, अनुशासित एवं आत्मनिग्रह के विभिन्न नियमोपनियमों के सहारे संपन्न किया जाता है।

नित्यकर्म को स्कूलों की प्राथमिक और पुरश्चरणों को माध्यमिक शिक्षा कहा जा सकता है। जूनियर हाईस्कूल, मैट्रिक-हायर सेकेंड्री का प्रशिक्षण माध्यमिक स्तर का समझा जाता है। इसके उपरांत कालेज की, विश्वविद्यालय की पढ़ाई का क्रम आरंभ होता है। इसे उच्चस्तरीय साधना कह सकते हैं। योग और तप इस स्तर के साधकों को क्रियान्वित करने होते हैं। योग में जीव-चेतना को ब्रह्म चेतना से जोड़ने के लिए स्वाध्याय-मनन से लेकर ध्यान-धारणा तक के अवलंबन अपनी मन:स्थिति के अनुरूप अपनाने पड़ते हैं। विचारणा,

भावना एवं आस्था की प्रगाढ़ प्रतिष्ठापना इसी आधार पर संभव होती है।

आत्मिक प्रगति के लिए प्रचलित अनेकानेक उपायों और विधानों में गायत्री विद्या अनुपम है। भारतीय तत्ववेत्ताओं ने, आत्मविज्ञानियों ने प्रधानतया इसी का अवलंबन लिया है और सर्वसाधारण को इसी आधार को अपनाने का निर्देश दिया है। भारतीय धर्म के दो प्रतीक है। शिखा और यज्ञोपवीत। दोनों को गायत्री की ऐसी प्रतिमा कहा जा सकता है, जिसकी प्रतीक धारणा को अनिवार्य धर्म-चिह्न बताया गया है। मस्तिष्क दुर्ग के सर्वोच्च शिखर पर गायत्री रूपी विवेकशीलता की ज्ञान-ध्वजा ही शिखा के रूप में प्रतिष्ठापित की जाती है। यज्ञोपवीत को गायत्री का कर्म पक्ष, यज्ञ का संकेत कहते हैं। उनकी तीन लड़ें, गायत्री के तीन चरण और नौ धागे इस महामंत्र के नौ शब्द कहे गये हैं। उपासना में संध्या-वंदन नित्य-कर्म है। वह गायत्री के बिना संपन्न नहीं होता। चारों वेद भारतीय धर्म और संस्कृति के मूल आधार है और उन चारों की जन्मदात्री वेदमाता गायत्री है। वेदों की व्याख्या अन्यान्य शास्त्र-पुराणों में हुई है। इस प्रकार आर्षवाङ्मय के सारे कलेवर को ही गायत्रीमय कहा जा सकता है। गायत्री और भारतीय धर्म-संस्कृति को बीज और वृक्ष की उपमा दी जा सकती है।

यह सर्वसाधारण के लिए भारतीय संस्कृति के, विश्व मानवता के प्रत्येक अनुयायी के लिए सर्वजनीन प्रयोग-उपयोग हुआ। गायत्री के २४ अक्षरों में बीज रूप में भारतीय तत्त्व-ज्ञान के समस्त सूत्र सन्निहित है। इस महामंत्र के विविध साधना उपचारों में तपश्चर्या को श्रेष्ठतम आधार कहा जा सकता है। उनमें बाल, वृद्ध, रोगी, नर-नारी, शिक्षित-अशिक्षित सभी के लिए छोटे-बड़े प्रयोग मौजूद है। सरल-से-सरल और कठिन-से-कठिन ऐसे विधानों का उल्लेख है, जिन्हें हर स्थिति का व्यक्ति अपनी-अपनी स्थिति एवं पात्रता के अनुरूप अपना सकता है।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासना के दो पक्ष है। एक गायत्री, दूसरी सावित्री अथवा कुंडलिनी। गायत्री की प्रतिमाओं में पाँच मुख चित्रित किए गए हैं। यह मानवी-चेतना के पाँच आवरण हैं। जिनके उतरते चलने पर आत्मा का असली रूप प्रकट होता है। इन्हें पाँच कोश-पाँच खजाने भी कह सकते हैं। अंत:चेतना में एक-से-एक बड़ी-चढ़ी विभूतियाँ प्रसुप्त अविज्ञात स्थिति में छिपी पड़ी हैं। इन्हें जगाने पर अंतर्जगत के पाँच देवता जग पड़ते हैं और उनकी विशेषताओं के कारण मानवी सत्ता देवोपम स्तर पर पहुँची हुई, जगमगाती हुई, दृष्टिगोचर होने लगती है। चेतना में विभिन्न प्रकार की उमंगें उत्पन्न करने का कार्य प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान यह पाँच प्राण करते हैं। इन्हें पाँच कोश कहा जाता है। शरीर पाँच तत्त्व देवताओं के समन्वय से बना है। अग्नि, वरुण, वायु, अनंत और पृथ्वी, यह पाँच तत्त्व, पाँच देवता ही काय-कलेवर का और सृष्टि में बिखरे पड़े दृश्यमान पदार्थों और अदृश्य प्रवाहों का संचालन करते हैं। समर्थ चेतना इन्हें प्रभावित करती है। इस विज्ञान को तत्त्व साधना अथवा 'प्रयंत्र विज्ञान' कहा गया है। पंचकोश उपासना से चेतना पंचक और पदार्थ पंचक के दोनों ही क्षेत्रों को समर्थ-परिष्कृत बनाने का अवसर मिलता है। सावित्री साधना यही है। इसका देवता सविता है। सावित्री और सविता का युग्म है। इस उपासना में सूर्य को प्रतीक और तेजस्वी परब्रह्म को, सविता को इष्ट मान कर उस स्रोत से ओजस्विता, तेजस्विता और मनस्विता आकर्षित की जाती है। इस क्षेत्र की तपश्चर्या से उस ब्रह्मतेजस् की प्राप्ति होती है, जो इस जड़-चेतन जगत् की सर्वोपरि शक्ति है।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासना की दूसरी प्रक्रिया है-कुंडलिनी। इसे जड़ और चेतन को परस्पर बांधे रहने वाली सूत्र शृंखला कह सकते हैं। प्रकारांतर से यह प्राण प्रवाह है जो व्यष्टि और समष्टि की समस्त हलचलों का संचालन करता है। नर और नारी अपनी जगह पर अपनी स्थिति में समर्थ होते हुए भी अपूर्ण है। इन दोनों को

समीप लाने और घनिष्ठ बनाने में एक अविज्ञात चुंबकीय शक्ति काम करती रहती है। इसी के दबाब से युग्मों का बनना और प्रजनन क्रम चलना संभव होता है। उदाहरण के लिए इस नर और नारी के बीच घनिष्ठता उत्पन्न करने वाले चुंबकीय धारा प्रवाह को कुंडलिनी की एक चिनगारी कह सकते हैं। प्रकृति और पुरुष को घनिष्ठ बनाकर उनसे सृष्टि संचार की विभिन्न हलचलों का संरजाम खड़ा करा लेना इसी ब्रह्मांडव्यापी कुंडलिनी का काम है। व्यक्ति सत्ता में भी काया और चेतना की घनिष्ठता बनाए रहना और शरीर में लिप्सा, मन में ललक और अंत:करण में लिप्सा उभारना इसी कुंडलिनी महाशक्ति का काम है। जीव की समस्त हलचलें, आकांक्षा, विचारणा और सक्रियता के रूप में सामने आती हैं। इनका सृजन-उत्पादन कुंडलिनी ही करती है, अन्यथा जड़ तत्त्वों में पुलकन कहाँ ? निर्विकार आत्मा में उद्विग्नता आतुरता कैसी ? दृष्य जगत की समस्त हलचलों के बीच जो बाजीगरी काम कर रही है, उसे अध्यात्म की भाषा में 'माया' कहा गया है। साधना क्षेत्र में इसी को कुंडलिनी कहते हैं। इसे विश्व हलचलों का-मानवी गतिविधियों का-उद्‌गम मर्मस्थल कह सकते हैं। यह प्रमुख कुंजी मास्टर के, हाथ आ जाने पर प्रगति का द्वार बंद किए रहने वाले सभी ताले खुलते चले जाते हैं। इस स्वेच्छाचारिणी महाशक्ति को वशवर्ती बनाने वाले साधक आत्मसत्ता पर नियंत्रण करने और जागतिक हलचलों को प्रभावित करने में समर्थ हो सकते हैं। गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में ऋतंभरा प्रज्ञा उभारने के लिए पंचकोशी उपासना प्रक्रिया काम में आती है और प्रत्यक्ष सत्ता को प्रखर बनाने के लिए कुंडलिनी साधना की कार्य-पद्धति काम में लाई जाती है। ब्रह्मवर्चस् साधना में इन दोनों का ही समावेश किया गया है। साधकों को इन साधनाओं में प्रविष्ट होने के पूर्व उनका स्वरूप एवं तत्त्व ज्ञान भी भली प्रकार हृदयगंम कर लेना चाहिए।



पंचमुखी गायत्री की उच्चस्तरीय साधना का स्वरूप

गायत्री-शक्ति और गायत्री-विद्या को भारतीय धर्म में सर्वोपरि स्थान दिया गया है। उसे वेदमाता-भारतीय धर्म और संस्कृति की जननी-उद्गम गंगोत्री कहा गया है। इस चौबीस अक्षर के छोटे से मंत्र के तीन चरण है। ॐ एवं तीन व्याहृतियों वाला चौथा चरण है। इन चारों चरणों का व्याख्यान चार वेदों में हुआ है। वेद भारतीय तत्त्वज्ञान और धर्म-अध्यात्म के मूल है। गायत्री उपासना की भी इतनी ही व्यापक एवं विस्तृत परिधि है।

गायत्री माता के आलंकारिक चित्रों, प्रतिमाओं में एक मुख-दो भुजाओं का चित्रण है। कमंडलु और पुस्तक हाथ में है। इसका तात्पर्य इस महाशक्ति को मानवता की-उत्कृष्ट आध्यात्मिकता की प्रतिमा बनाकर उसे मानवी आराध्य के रूप में प्रस्तुत करना है। इसकी उपासना के दो आधार है- ज्ञान और कर्म। पुस्तक से ज्ञान का और कंमडलु जल से कर्म का उद्बोधन कराया गया है। यही वेदमाता है। उसी को विश्व-माता की संज्ञा दी गई है। सर्वजनीन और सर्वप्रथम इसी उपास्य को मान्यता दी गई है।

उच्चस्तरीय साधना में इस प्रतीक-प्रतिमा का रूप यत्किंचित बदल जाता है। यह पंचमुखी है। योगाराधन में यही उपास्य है। पाँच मुख और दस भुजा वाली प्रतिमा में कई संकेत हैं। दस भुजाएँ, दस इंद्रियों की सूक्ष्म-शक्ति का संकेत करती है और बताती है कि उनकी संग्रहीत एवं दिव्य सामर्थ्य गायत्री माता की समर्थ भुजाओं के

समतुल्य है। दस दिशाओं में उसकी व्यापकता भरी हुई है। दस दिग्पाल-दस दिग्गज पृथ्वी का संरक्षण करते माने गए हैं। गायत्री की दस भुजाएँ ही दस दिग्पाल हैं। उनमें धारण किए हुए विविध आयुधों ये यह पता चलता है कि वह सामर्थ्य कितने प्रकार की धाराएँ प्रवाहित करती एवं कितने क्षेत्रों को प्रभावित करती है।

उच्चस्तरीय साधना में पंचमुखी गायत्री प्रतिमा में पंचकोशी गायत्री उपासना की आवश्यकता का संकेत है। ये पाँचकोश अंतर्जगत् के पाँच देव, पाँच प्राण, पाँच महान सद्गुण, पंचाग्नि, पंचतत्त्व, आत्मसत्ता के पाँच कलेवर आदि कहे जाते हैं। पंचदेवों की साधना से उन्हें जागृत-सिद्ध कर लेने से जीवन में अनेकानेक संपत्तियों और विभूतियों के अवतरण का रहस्योद्घाट्न किया गया है। पाँच प्राणों को चेतना की पाँच धाराएँ, चिंतन की प्रखरताएँ कहा गया है। चेतना की उत्कृष्टता इन्हीं के आधार पर बढ़ती और प्रचंड होती है। प्राण विद्या भी गायत्री विद्या का ही एक अंग है। गायत्री शब्द का अर्थ भी गय=प्राण+त्री=त्राता। अर्थात् प्राण शक्ति का परित्राण करने वाली दिव्य-क्षमता के रूप में किया गया है। कठोपनिषद् में पंचाग्नि विद्या के रूप में इस प्राण तत्त्व को इन्हीं पाँच धाराओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गायत्री के पाँच मुखों, पंचकोशों के रूप में उन पाँच तत्त्वों की प्रखरता का वर्णन है, जिनसे यह समस्त विश्व और मानव शरीर बना है। स्थूल रूप में यह पाँच तत्त्व पैरों तले रौंदी जाने वाली मिट्टी, कपड़े धोने के लिए काम आने वाली पानी, चूल्हे में जलने वाली आग, पोला आकाश और उसमें मारी-मारी फिरने वाली हवा के रूप में देखे जाते हैं, पर यदि उनकी सूक्ष्म क्षमता पर गहराई से दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि इन तत्त्वों के नगण्य से परमाणु तक कितनी अद्भुत शक्ति अपने में धारण किए बैठे हैं। उनकी रासायनिक एवं ऊर्जागत क्षमता कितनी महान है। पंच तत्त्वों से बना यह स्थूल जगत् और उनकी तन्मात्राओं से बना सूक्ष्म जगत् कितना

अद्भुत, कितना रहस्यमय है, यह समझाने का प्रयत्न किया जाता है तो बुद्धि थक कर उसे विराट् ब्रह्म की साकार प्रतिमा मानकर ही संतोष करती है। इन पाँच तत्त्वों के अद्भुत रहस्यों का संकेत गायत्री के पाँच मुखों में बताया गया है और समझाया गया है कि यदि इनका ठीक प्रकार उपयोग, परिष्कार किया जा सके तो उनका प्रतिफल प्रत्यक्ष पाँच देवों की उपासना जैसा हो सकता है। पृथ्वी, अग्नि, वरुण, मरुत, अनंत इन पाँच देवताओं को पौराणिक कथा-प्रसंग में उच्चस्तरीय क्षमता संपन्न बताया गया है। कुंती ने इन्हीं पाँच देवताओं की आराधना करके पाँच देवोपम पुत्ररत्न पाए थे। पंचमुखी, पंचकोशी उच्चस्तरीय उपासना में तत्त्व-दर्शन की-तत्त्व साधना की गरिमा का संकेत है।

मानव सत्ता के तीन शरीर है-कारण, सूक्ष्म और स्थूल। कारण शरीर में पाँच संवेदनाएँ, सूक्ष्म शरीर में पाँच प्राण चेतनाएँ और स्थूल शरीर में पाँच शक्ति धाराएँ विद्यमान है और उच्चस्तरीय साधना विज्ञान का सहारा लेकर उन्हें उभारे जाने का संकेत एवं निर्देश है।

पाँच देवों में (१) भवानी (२) गणेश (३) ब्रह्मा (४)विष्णु (५)महेश की गणना होती है। इन्हें क्रमशः बलिष्ठता, बुद्धिमत्ता, उपार्जन शक्ति, अभिवर्धन, पराक्रम एवं परिवर्तन की प्रखरता कह सकते हैं। ये पाँच देवता ब्रह्मांडव्यापी ईश्वरीय दिव्य शक्तियों के रूप में संव्याप्त हैं और सृष्टि संतुलन एवं संचालन में योगदान करते हैं। यही पाँच शक्तियाँ आत्मसत्ता में भी विद्यमान हैं और इस छोटे ब्रह्मांड को सुखी-समुन्नत बनाने का उत्तरदायित्व सँभालते हैं। इन्हें पाँच कोशों में सन्निहित अंतर्जगत् के पाँच देव कहा जा सकता है। पंचकोश साधना की सफलता को उपर्युक्त पाँच देवताओं के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले अनुदान-वरदान के रूप में अनुभव किया जाता है।

कोश खजानों को भी कहते हैं। समुद्र को रत्नाकर कहा जाता है और गर्भ में असीम रत्न-राशि भरी होने की बात सर्वविदित है। जमीन में भी जल, तेल, धातुएँ, रत्न तथा अन्यान्य बहूमूल्य पदार्थ मिलते हैं। यह खजाने खुदाई करने पर ही मिलते हैं। पूर्वजों के द्वारा

छोड़ा हुआ धन प्रायः जमीन में गड़ा होता था। उत्तराधिकारी उसे खोदते, निकालते और लाभान्वित होते थे। ईश्वर प्रदत्त बहुमूल्य विभूतियाँ आत्मसत्ता के मर्मस्थलों में छिपी रहती हैं। पंचकोश जागरण की साधना से उस वैभव को-सिद्धि-संपदा को साधक उपलब्ध करते हैं।

आत्मसत्ता के पाँच कलेवरों के रूप में पंचकोशों को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। शास्त्रकारों ने मानवीसत्ता को पाँच वर्गों में विभक्त किया है। उनके नाम हैं-(१) अन्नमय कोश (२) प्राणमय कोश (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश (५) आनंदमय कोश।

अन्नमय कोश का अर्थ है-इंद्रिय चेतना, प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति, मनोमय कोश अर्थात् विचार बुद्धि, विज्ञानमय कोश अर्थात् भाव प्रवाह, आनंदमय कोश अर्थात् आत्मबोध, आत्मस्वरूप में स्थिति। ये पाँच चेतना के स्तर हैं।

निम्न स्तर के प्राणी इनमें भूमिका में पड़े रहते हैं। कृमि-कीटकों की चेतना इंद्रियों की प्रेरणा के इर्द-गिर्द अपना चिंतन सीमित रखती है। वे शरीर की जीवनी-शक्ति मात्र से जीवित रहते हैं। संकल्प-बल उनके जीवन-मरण में सहायक नहीं होता। मनुष्य की जिजीविषा इस शरीर को अशक्त-असमर्थ होने पर भी जीवित रख सकती है, पर निम्न वर्ग के प्राणी मात्र सर्दी-गर्मी बढ़ने जैसे ऋतुओं से प्रभावित होकर अपना प्राण त्याग देते हैं। उन्हें जीवन-संघर्ष के अवरोध में पड़ने की इच्छा नहीं होती।

प्राणमय कोश की क्षमता जीवनी-शक्ति के रूप में प्रकट होती है। जीवित रहने की सुदृढ़ और स्थिर इच्छा शक्ति के रूप में उसे देखा जा सकता है। स्वस्थ, सुदृढ़ और दीर्घ जीवन का लाभ शरीर को इसी आधार पर मिलता है। मनस्वी, ओजस्वी और तेजस्वी व्यक्तित्व ही विभिन्न क्षेत्रों में सफलताएँ प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत दीन-हीन, भयभीत, शंकाशील, निराश, खिन्न, हतप्रभ व्यक्ति अपने इसी दोष के कारण उपेक्षित, तिरस्कृत एवं उपाहासास्पद बने

रहते हैं। उत्साह के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहने वाली कर्मनिष्ठा का जहाँ अभाव होगा, वहाँ अवनति और अवगति के अतिरिक्त और कुछ रहेगा ही नहीं। साहस बाजी मारता है। बहादुरों के गले में अनादि काल से विजय बैजयन्ती पहनाई जाती रही है और अनंत काल तक यही क्रम चलता रहेगा।

मनोमय कोश का अर्थ है-विचारशीलता, विवेक बुद्धि। यह तत्त्व जिसमें जितना सजग होगा, उसे उसी स्तर का मनस्वी या मनोबल संपन्न कहा जाएगा। यों मन हर जीवित प्राणी का होता है। कीट-पतंग भी उससे रहित नहीं हैं, पर मनोमय कोश के व्याख्याकारों ने उसे दूरदर्शिता, तर्क-प्रखरता एवं विवेकशीलता के रूप में विस्तारपूर्वक समझाया है। मन की स्थिति हवा की तरह है, वह दिशा विशेष तक सीमित न रहकर स्वेच्छाचारी वन्य पशु की तरह किधर भी उछलता-कूदता है। पक्षियों की तरह किसी भी दिशा में चल पड़ता है। इसे दिशा देना, चिंतन के अनुपयोगी प्रवाह में बहने से बचा कर उपयुक्त मार्ग पर सुनियोजित करना, मनस्वी होने का प्रधान चिह्न है। मनोनिग्रह-मनोजय इसी का नाम है।

एकाग्रता एवं चित्तवृत्ति-निरोध का बहुत माहात्म्य योगशास्त्रों में बताया गया है। इसका अर्थ चिंतन प्रक्रिया को ठप्प कर देना, एक ही ध्यान में निमग्न रहना नहीं, वरन यह है कि विचारों का प्रवाह नियत-निर्धारित प्रयोजन में ही रुचिपूर्वक लगा रहे। यह कुशलता जिनको करतलगत हो जाती है, वे जो भी लक्ष्य निश्चित करते हैं, उसमें प्रायः अभीष्ट सफलता ही प्राप्त करके रहते हैं। बिखराव की दशा में चिंतन की गहराई में उतरने का अवसर नहीं मिलता। अस्तु किसी विषय में प्रवीणता और पारंगतता भी हाथ नहीं लगती। संसार में विशेषज्ञों का स्वागत होता है, यहाँ हर क्षेत्र में ''ए-वन'' की माँग है और यह उपलब्धि कुशाग्र बुद्धि पर ही नहीं वरन् सघन मनोमय के साथ संबद्ध है। इस मनोयोग का वरदान प्राप्त करने के लिए

जो प्रयास-व्यायाम करने पड़ते हैं, उन्हें ही मनोमय कोश की साधना कहते हैं।

विज्ञानमय कोश को सामान्य भाषा में भावना प्रवाह कह सकते हैं। यह चेतना की गहराई में अवस्थित अंतःकरण से संबंधित है। विचार-शक्ति से भाव-शक्ति कहीं गहरी है, साथ ही उसकी क्षमता एवं प्रेरणा भी अत्यधिक सशक्त है। मनुष्य विचारशील ही नहीं, संवेदनशील भी है। ये संवेदनाएँ ही उत्कृष्ट स्तर की आकांक्षाएँ उत्पन्न करती हैं और उन्हीं से प्रेरित होकर मनुष्य बेचैन-विचलित हो उठता है, जब कि विचार-प्रवाह मात्र मस्तिष्कीय हलचल भर पैदा कर पाता है। देव और दैत्य का वर्गीकरण इस भाव चेतना के स्तर को देखकर ही किया जाता है।

विज्ञानमय कोश की संतुलित साधना मनुष्य को दयालु, उदार, सज्जन, सहृदय, संयमी एवं शालीन बनाती है। उसे दूसरों को दुःखी देखकर उसकी स्थिति में अपने को रखकर व्यथित होने की 'सहानुभूति' का अभ्यास होता है। तदनुसार औरों का दुःख बँटाने की, सेवा-परायणता की आकांक्षा सदा उठती रहती है। विभिन्न प्रकार के परमार्थ इसी स्थिति में बन पड़ते हैं। ऐसे व्यक्तियों की आत्मभावना सुविस्तृत होते-होते अतीव व्यापक बन जाती है। तब दूसरों के सुख में भी अपने निज के सुख जैसा आभास मिलता है।

आनंदमय कोश का विकास यह देखकर परखा जा सकता है कि मनुष्य क्षुब्ध, उद्विग्न, चिंतित, खिन्न, रुष्ट, असंतुष्ट रहता है अथवा हँसती, मुस्कराती, हलकी-फुलकी, सुखी, संतुष्ट जिंदगी जीता है। मोटी मान्यता यह है कि वस्तुओं, व्यक्तियों अथवा परिस्थितियों के कारण मनुष्य सुखी-दुःखी रहते हैं, पर गहराई से विचार करने पर यह मान्यता सर्वथा निरर्थक सिद्ध होती है। एक ही बात पर सोचने के अनेक दृष्टिकोण होते हैं। सोचने का तरीका किस स्तर का अपनाया गया-यही है मनुष्य के खिन्न अथवा प्रसन्न रहने का कारण।

अपने स्वरूप का, संसार की वास्तविकता का बोध होने पर सर्वत्र आनंद-ही-आनंद है। दुःख तो अपने आपे को भूल जाने का, संसार को सब कुछ समझ बैठने के अज्ञान का है। यह अज्ञान ही भव-बंधन है, इसे ही माया कहते हैं। प्राणी विविध ताप इसी नरक की आग में जलने से सहता है। सच्चिदानंद परमात्मा के इस सुरम्य नंदन वन जैसे उद्यान में दुःख का एक कण भी नहीं, दुःखी तो हम केवल अपने दृष्टि-दोष के कारण होते हैं। वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति का विकृत रूप देखकर ही डरते और भयभीत होते हैं। यदि यह दृष्टि-दोष सुधर जाय, तो मिथ्या आभास के कारण उत्पन्न हुई भ्रांति का निवारण होने में देर न लगे और आत्मा की निरंतर आनंद से परिपूर्ण-परितृप्त रहने की स्थिति बनी रहे।

पाँच कोशों की भावनात्मक पृष्ठभूमि यही है। इन्हीं कसौटियों पर कसकर किसी व्यक्ति की आंतरिक स्थिति के बारे में जाना जा सकता है कि वह आत्मिक दृष्टि से कितना गिरा-पिछड़ा है अथवा उठने-विकसित होने में सफल हुआ है।

गायत्री और सावित्री की समन्वित साधना

पौराणिक प्रतिपादन के अनुसार ब्रह्मा जी की दो पत्नियाँ हैं- एक गायत्री, दूसरी सावित्री। इस अलंकार से तत्त्व दर्शन के रूप में यह समझना चाहिए कि परब्रह्म-परमात्मा की दो प्रमुख शक्तियाँ हैं-एक भाव चेतना-परा प्रकृति, दूसरी पदार्थ चेतना-अपरा प्रकृति। परा प्रकृति के अंतर्गत व्यक्ति संपर्क से उसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं आत्मा का परिकर कहा जा सकता है। अपरा प्रकृति के रूप में वही महातत्त्व बनकर इस विराट् ब्रह्मांड में क्रियाशील दृष्टिगोचर होता है। इसी अपरा प्रकृति को पदार्थ सत्ता एवं जड़ प्रकृति कहते हैं। पदार्थों की समस्त हलचलें इसी पर निर्भर हैं। परमाणुओं का अपनी धुरी पर घूमना, उनके द्वारा विविध-विधि क्रियाकलापों का संचालन होना, उसी अपरा प्रकृति की सूक्ष्म प्रेरणा से संभव होता है। विद्युत, ताप, प्रकाश, चुंबकत्व, रसायन, ईथर आदि उसी के विभाग हैं। पदार्थ विज्ञान इन्हीं शक्तियों को काम में लाकर अगणित आविष्कार करने और यांत्रिक सुविधा-साधन उत्पन्न करने में लगा हुआ है। इस अपरा प्रकृति को अध्यात्म की भाषा में सावित्री कहा गया है। कुंडलिनी इसी दूसरी शक्ति का नाम है।

गायत्री और सावित्री का अंतर और भी स्पष्ट समझना हो तो गायत्री को ज्ञान-शक्ति और सावित्री को क्रिया-शक्ति कह सकते हैं। गायत्री चेतना की सामर्थ्य है और सावित्री पदार्थ के अंतराल में काम करने वाली क्षमता। इन्हीं दोनों के प्रभाव से

यह समस्त संसार और मानवी काय-कलेवर अपनी हलचलों को जीवित रखे हुए है। गायत्री चेतना का शास्त्र, ब्रह्म विद्या है और सावित्री शक्ति की व्याख्या कुंडलिनी विज्ञान के रूप में की जाती है। गायत्री को पंचकोशी साधना के अंतर्गत और सावित्री को कुंडलिनी विज्ञान के अंतर्गत प्रखर-परिष्कृत बनाया जाता है। गायत्री साधना चेतनात्मक रहस्यों का, दिव्य विभूतियों का अनुदान प्रस्तुत करती है और कुंडलिनी भौतिक सिद्धियों के लिए आवश्यक पथ-प्रशस्त करती है। एकांगी प्रगति अपर्याप्त है। उत्कर्ष उभय-पक्षीय होना चाहिए। इसलिए ब्रह्म-विज्ञान के माध्यम से पंचकोशी गायत्री उपासना के साथ-साथ ब्रह्मतेजस् की-कुंडलिनी जागरण साधना को चलाते रहने का भी निर्देश है। इसे विरोधाभास की दृष्टि से नहीं वरन् पूरक प्रक्रिया का शुभारंभ ही समझना चाहिए।

समन्वयात्मक साधना का जितना महत्त्व है, उतना एकांगी का, असंबद्ध का नहीं। प्रायः साधना क्षेत्र में इन दोनों में यही भूल होती रही है। ज्ञान मार्गी-राजयोगी, भक्तिपरक साधना तक सीमित रह जाते हैं और हठयोगी, कर्मकांडी तप साधनाओं में निमग्न रहते हैं। उपयोगिता दोनों की है। महत्ता किसी की भी कम नहीं, पर उनका एकांगीपन उचित नहीं, दोनों का जोड़ा और मिलाया जाना चाहिए। यह शिव-पार्वती विवाह ही गणेश जैसा भावनात्मक वरदान और कार्तिकेय जैसे पदार्थात्मक अनुदानों की भूमिका प्रस्तुत कर सकता है।

गायत्री साधना का उद्देश्य मानसिक चेतनाओं का जागरण और कुंडलिनी साधना का प्रयोजन पदार्थगत सक्रियताओं का अभिवर्धन है। दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। समर्थ शरीर और समर्थ मस्तिष्क परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। इन्हें गाड़ी के दो पहिए कहना चाहिए। एक के बिना दूसरा निरर्थक रहता है। रुग्ण रहने वाला तत्त्व ज्ञानी और मूढ़मति नरपशु दोनों ही अधूरे हैं। आवश्यकता

दोनों के समन्वय की है। यों वरिष्ठ और कनिष्ठ का चुनाव करना है तो प्राथमिकता मानसिक चेतना को ही मिलेगी।

मस्तिष्क मार्ग से प्रकट होने वाली चेतनात्मक शक्तियों की सिद्धियों का वारापार नहीं। योगी, तत्त्वज्ञानी, परादर्शी, मनीषी, विज्ञानी, कलाकार, आत्मवेत्ता, महामानव इसी शक्ति का उपयोग करके अपने वर्चस्व को प्रखर बनाते हैं। ज्ञान शक्ति के चमत्कारों से कौन अपरिचित है ? मस्तिष्क का महत्त्व किसे मालूम नहीं ? उसके विकास के लिए स्कूली प्रशिक्षण से लेकर स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन और साधना से समाधि तक के अगणित प्रयोग किए जाते रहते हैं। इस व्यावहारिक क्षेत्र को गायत्री उपासना-परा प्रकृति की साधना ही कहना चाहिए।

दूसरी क्षमता है, क्रिया शक्ति अर्थात् अपरा प्रकृति। शरीरगत अवयवों का सारा क्रिया-कलाप इसी से चलता है। श्वास-प्रश्वास, संचार, निद्रा, जागृति, मलों का विर्सजन, ऊष्मा, ज्ञान तत्त्व, विद्युत प्रवाह आदि अगणित प्रकार के क्रिया-कलाप शरीर में चलते रहते हैं। उन्हें अपरा प्रकृति का कर्तृत्व कहना चाहिए, इसे जड़ पदार्थों को गतिशील रखने वाली क्रिया शक्ति कहना चाहिए। व्यक्तिगत जीवन में इसका महत्त्व भी कम नहीं। आरोग्य, दीर्घ जीवन, बलिष्ठता, स्फूर्ति, साहसिकता, सौंदर्य आदि कितनी ही शरीरगत विशेषताएँ इसी पर निर्भर हैं। इसे व्यावहारिक रूप से कुंडलिनी शक्ति कहना चाहिए। आहार, व्यायाम, विश्राम आदि द्वारा साधारणतया इसी शक्ति की साधना-उपासना की जाती है।

यों प्रधान तो मस्तिष्क स्थित दिव्य चेतना ही है। वह बिखर जाय तो तत्काल मृत्यु आ खड़ी होगी, पर कम उपयोगिताशरीरगत पदार्थ चेतना की भी नहीं है। उसकी कमी होने से मनुष्य दुर्बल, रुग्ण, अकर्मण्य, निस्तेज, कुरूप और कायर बनकर रह जायगा। निरर्थक, निरुपयोगी, भार-भूत जिंदगी की लाश ही ढोता रहेगा।

गायत्री का केंद्र सहस्रार-मस्तिष्क का मस्तिष्क-ब्रह्मरंध्र है। कुंडलिनी का केंद्र काम बीज-मूलाधार चक्र। गायत्री ब्रह्म-चेतना की और सावित्री ब्रह्म-तेज की प्रतीक है। दोनों की परस्पर सघन एकता और अविच्छिन्न घनिष्ठता है। एक को उत्तर ध्रुव और दूसरी ओर दक्षिण ध्रुव कह सकते हैं। पृथ्वी की धुरी के यह दोनों ही छोर हैं। मानवी सत्ता के भी यही दो ध्रुव मिलजुलकर जीवन का समग्र संचार करते हैं। गायत्री से दिव्य आध्यात्मिक विभूतियाँ उपलब्ध होती हैं और सावित्री से भौतिक ऋद्धि-सिद्धियाँ। गायत्री उपासना की उच्चस्तरीय साधना पंचकोशों की, पंचयोगों की साधना बन जाती है। सावित्री कुंडलिनी है और उसे पाँच तप साधनों द्वारा जगाया जाता है। योग और तप के समन्वय से ही संपूर्ण आत्मसाधना का स्वरूप बनता और समग्र प्रतिफल मिलता है। इसलिए पंचकोशों की गायत्री और कुंडलिनी जागरण की सावित्री विद्या का समन्वित अवलंबन अपनाना ही हितकर है। बिजली की दो धाराएँ मिलने पर ही शक्ति प्रवाह में परिणत होती है। आत्मिक प्रगति का रथ भी इन्हीं दो पहियों के सहारे महान लक्ष्य की दिशा में गतिशील होता है।

उल्लेख किया जा चुका है कि कुंडलिनी को अपरा प्रकृति कहा जाता है और शरीर में उसका स्थान मूलाधार में है। इसे 'जीवन अग्नि' (लाइफ फायर) के नाम से भी जाना जाता है। मूलाधार क्षेत्र में त्रिकोण शक्ति बीज है, जिसकी संगति सुमेरु से बिठाई जाती है।

एक सर्पाकार विद्युत प्रवाह इस सुमेरु के आस-पास लिपटा बैठा है। इसी को महासर्पिणी कुंडलिनी कहते हैं। इसे विद्युत भ्रमर भी कह सकते हैं। तेज बहने वाली नदियों में कहीं-कहीं भँवर पड़ते हैं। जहाँ भँवर पड़ते हैं, वहाँ पानी की चाल सीधी अग्रगामी न होकर गोल गह्वर की गति में बदल जाती है। मनुष्य शरीर में सर्वत्र तो नाड़ी संस्थान के माध्यम से सामान्य गति से विद्युत-प्रवाह बहता है, पर उस मूलाधार स्थित सुमेरु के समीप जाकर वह भँवर गह्वर की तरह

चक्राकार घूमती रहती है। इसे सर्पिणी कहते हैं। कुंडलिनी की आकृति, सर्प की-सी आकृति मानी गई है।

नदी प्रवाह में भँवरों की शक्ति अद्‌भुत होती है। उनमें फँसकर बड़े-बड़े जहाज भी सँभल नहीं पाते और देखते-देखते डूब जाते हैं। साधारण नदी प्रवाह में जितनी शक्ति और गति रहती है उससे ६० गुनी अधिक शक्ति भँवर में पाई जाती है। शरीरगत विद्युत प्रवाह में अन्यत्र पाई जाने वाली क्षमता की तुलना में कुंडलिनी की शक्ति हजारों गुनी बड़ी है। उसका स्वरूप एवं विज्ञान यदि ठीक तरह समझा जा सके और उस विद्युत प्रवाह का प्रयोग-उपयोग जाना जा सके, तो निःसंदेह व्यक्ति सर्व सामर्थ्य संपन्न सिद्ध पुरुष बन सकता है।

कुंडलिनी का मध्यवर्ती जागरण मनुष्य शरीर में एक अद्‌भुत प्रकार की तड़ित उत्पन्न कर देता है।

वस्तुतः स्थूल कुंडलिनी का महासर्पिणी स्वरूप मूलाधार से लेकर मेरुदंड समेत ब्रह्मरंध्र तक फैले हुए सर्पाकृति कलेवर में ही पूरी तरह देखा जा सकता है। ऊपर-नीचे मुड़े हुए दो महान शक्तिशाली चक्र ही उसके आगे-पीछे वाले दो मुख हैं।

मेरुदंड पोला है, उसके भीतर जो कुछ है, उसकी चर्चा शरीर शास्त्र के स्थूल-प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर दूसरे ढंग से की जा सकती है। शल्य-क्रिया द्वारा जो देखा जा सकता है, वह रचना क्रम दूसरा है। इसमें सूक्ष्म प्रक्रिया के अंतर्गत योगशास्त्र की दृष्टि से परिधि में सन्निहित दिव्य-शक्तियों की चर्चा करनी है। योगशास्त्र के अनुसार मेरुदण्ड में एक ब्रह्म-नाड़ी है। उसके अंतर्गत इड़ा और पिंगला दो शिरायें गतिशील है। यह नाड़ियाँ रक्तवाहिनी शिरायें नहीं समझी जानी चाहिए। वस्तुतः ये विद्युत-धाराएँ हैं। जैसे बिजली के तार में ऊपर एक-एक रबड़ का खोल चढ़ा होता है और उसके भीतर जस्ते तथा ताँबे का ठंडा-गरम तार रहता है, उसी प्रकार इन नाड़ियों को समझा जाना

चाहिए। ब्रह्म नाड़ी रबड़ का खोल हुआ , उसके भीतर इड़ा और पिंगला ठंडे-गरम तारों की तरह हैं। इनका स्थूल कलेवर या अस्तित्व नहीं है। शल्य-क्रिया द्वारा यह नाड़ियाँ नहीं देखी जा सकतीं। इस रचना क्रम को, सूक्ष्म विद्युत-धाराओं को दिव्य रचना ही कहना चाहिए।

मस्तिष्क के भीतरी भाग में यों कतिपय 'कोष्ठकों' के अंतर्गत भरा हुआ मज्जा भाग ही देखने को मिलेगा। खुर्दबीन से और कुछ नहीं देखा जा सकता, पर सभी जानते हैं कि उस दिव्य संस्थान के नगण्य से दीखने वाले घटकों के अंतर्गत विलक्षण शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। मनुष्य का सारा व्यक्तित्त्व, सारा चिंतन, सारा क्रिया-कलाप और सारा शारीरिक, मानसिक अस्तित्त्व इन घटकों के ऊपर ही अवलंबित रहता है। देखने में सभी का मस्तिष्क लगभग एक जैसा दीखेगा, पर उसकी सूक्ष्म स्थिति में पृथ्वी, आकाश जैसा अंतर दीखता है, उसके आधार पर व्यक्तियों का घटिया-बढ़िया होना सहज आँका जा सकता है। यही सूक्ष्मता कुंडलिनी के संबंध में व्यक्त की जा सकती है। मूलाधार, सहस्रार, ब्रह्म नाड़ी, इड़ा-पिंगला इन्हें शल्य-क्रिया द्वारा नहीं देखा जा सकता। यह सारी दिव्य-रचना ऐसी सूक्ष्म है, जो देखी तो नहीं जा सकती, पर उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

मलद्वार और जननेंद्रिय के बीच जो लगभग चार अंगुल जगह खाली पड़ी है, उसी के गह्वर में एक त्रिकोण परमाणु पाया जाता है। सारे शरीर में गोल कण हैं, यह एक ही तिकोना है। यहाँ एक प्रकार का शक्ति-भ्रमर है। शरीर में प्रवाहित होने वाली तथा मशीनों में संचारित बिजली की गति का क्रम यह है कि वह आगे बहती है, फिर तनिक पीछे हटती है और फिर उसी क्रम से आगे बढ़ती, पीछे हटती हुई अपनी अभीष्ट दिशा में दौड़ती चली जाती है किंतु मूलाधार स्थित त्रिकोण कण के शक्ति भँवर में सन्निहित बिजली गोल घेरे में पेड़ से लिपटी हुई बेल की तरह घूमती हुई संचारित होती है। यह

संचार क्रम प्रायः साढ़े तीन लपेटों का है। आगे चलकर यह विद्युत धारा इस विलक्षण गति को छोड़कर सामान्य रीति से प्रवाहित होने लगती है।

यह प्रवाह निरंतर मेरुदंड में होकर मस्तिष्क के उस मध्य बिंदु तक दौड़ता रहता है, जिसे ब्रह्मदंड या सहस्रार कमल कहते हैं। इस शक्ति केंद्र का मध्य अणु भी शरीर के अन्य अणुओं से भिन्न रचना का है। वह गोल न होकर चपटा है। उसके किनारे चिकने न होकर खुरदरे हैं। आरी के दाँतों से उस खुरदरेपन की तुलना की जा सकती है। योगियों का कहना है कि उन दाँतों की संख्या एक हजार है। अलंकारिक दृष्टि से इसे एक ऐसे कमल पुष्प की तरह चित्रित किया जाता है, जिसमें पंखुड़ियाँ खिली हुई हों। इस अलंकार के आधार पर ही इस अणु का नामकरण 'सहस्रार-कमल' किया गया है।

जिस प्रकार पृथ्वी में चेतना एवं क्रिया उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों से प्राप्त होती है, उसी प्रकार मानव पिंड देह के भी दो ही अति सूक्ष्म शक्ति संस्थान हैं। उत्तरी ध्रुव है-ब्रह्मरंध्र मस्तिष्क सहस्रार कमल। ध्यान से लेकर समाधि तक और आत्मचिंतन से लेकर भक्तियोग तक की सारी आध्यात्मिक साधनाएँ तथा मनोबल, आत्मबल एवं संकल्प-जन्य सिद्धियों का केंद्र बिंदु इसी स्थान पर है।

दूसरा दक्षिणी ध्रुव मूलाधार चक्र, सुमेरु संस्थान, सुषुम्ना केंद्र है, जो मल-मूत्र के संस्थानों के बीचोंबीच अवस्थित है। कुंडलिनी, महासर्पिणी, प्रचंड क्रिया-शक्ति इसी स्थान पर सोई पड़ी है। उत्तरी ध्रुव की महासर्पिणी अपने सहचर महासर्प के बिना निरानंद मूर्च्छित जीवन व्यतीत करती है। मनुष्य शरीर विश्व की समस्त विशेषताओं का प्रतीक-प्रतिबिंब होते हुए भी तुच्छ-सा जीवन व्यतीत करते हुए कीट-पतंग की मौत मर जाता है। कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त नहीं कर पाता, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे पिंड के, देह के दोनों ध्रुव मूर्च्छित पड़े

हैं, यदि वे सजग हो गए होते तो ब्रह्मांड जैसी महान चेतना अपने पिंड में भी परिलक्षित होती।

मूत्र स्थान यों एक प्रकार से घृणित एवं उपेक्षित स्थान है, पर तत्त्वतः उसकी सामर्थ्य मस्तिष्क में अवस्थित ब्रह्मरंध्र जितनी ही है। वह हमारी सक्रियता का केंद्र है। यों नाक, कान आदि छिद्र भी मल विर्सजन के लिए प्रयुक्त होते हैं, पर उन्हें कोई ढकता नहीं। मूत्र यंत्र को ढकने की अनादि एवं आदिम परिपाटी के पीछे वह सर्तकता है, जिसमें यह निर्देश है कि इस संस्थान से जो अजस्र शक्ति-प्रवाह बहता है, उसकी रक्षा की जानी चाहिए। शरीर के अन्य अंगों के तरह यों प्रजनन अवयव भी मांस-मज्जा मात्र से ही बने हैं, पर उनके दर्शन मात्र से मन विचलित हो उठता है। अश्लील चित्र अथवा अश्लील चिंतन जब मस्तिष्क में उथल-पुथल पैदा कर देता है, तो उन अवयवों का दर्शन यदि भावनात्मक हलचल को उच्छृंखल बना दे तो आश्चर्य ही क्या है? यहाँ यह रहस्य जान लेना ही चाहिए कि मूत्र स्थान में बैठी हुई कुंडलिनी शक्ति प्रवाहित नहीं रहने दी जा सकती। उन्हें आवरण में रखने से उनका अपव्यय बचता है और अन्यों के मानसिक संतुलन को क्षति नहीं पहुँचती। छोटे बच्चों को भी कटिबंध इसीलिए पहनाते हैं। ब्रह्मचारियों को धोती के अतिरिक्त लँगोट भी बाँधे रहना पड़ता है। पहलवान भी ऐसा ही करते हैं। संन्यास और वानप्रस्थ में भी यही प्रक्रिया अपनानी पड़ती है।

उत्तरी ध्रुव सहस्रार-कमल में विक्षोभ उत्पन्न करने और उसकी शक्ति को अस्त-व्यस्त करने का दोष लोभ, मोह, क्रोध, जैसी दुष्प्रवृत्तियों का है। मस्तिष्क उन चिंताओं में दौड़ जाता है, तो उसे आत्मचिंतन के लिए ब्रह्म-शक्ति के संचय के लिए अवसर ही नहीं मिलता। इसी प्रकार दक्षिणी ध्रुव मूलाधार में भरी प्रचंड क्षमता को कार्य-शक्ति में लगा दिया जाय तो मनुष्य पर्वत उठाने एवं समुद्र मथने जैसे कार्यों को कर सकता है। क्रिया-शक्ति मानव प्राणी में

असीम है, किंतु उसका क्षय कामुक विषय-विकारों में होता रहता है। यदि इस प्रवाह को गलत दिशा से रोक कर सही दिशा में लगाया जा सके, तो मनुष्य की कार्य क्षमता साधारण न रहकर दैत्यों अथवा देवताओं जैसी हो सकती है।

पुराणों में समुद्र मंथन की कथा आती है। यह सारा चित्रण सूक्ष्म रूप से मानव शरीर में अवस्थित कुंडलिनी शक्ति के प्रयोग-प्रयोजन का है। हमारा मूत्र संस्थान खारी जल से भरा समुद्र है। उसे अगणित रत्नों का भाण्डागार कह सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों की सुविस्तृत रत्न राशि इसमें छिपी हुई है। प्रजापति के संकेत पर एक बार समुद्र मथा गया है। देव और दानव इसका मंथन करने जुट गए। असुर उसे अपनी ओर खींचते थे अर्थात कामुकता की ओर घसीटते थे और देवता उसे रचनात्मक प्रयोजनों में नियोजित करने के लिए तत्पर थे। यह खींच-तान दूध में से मक्खन निकालने वाली बिलौने की, मंथन की क्रिया चित्रित की गई है।

समुद्र मंथन उपाख्यान में यह भी वर्णन है कि भगवान ने कछुआ का रूप बनाकर आधार स्थापित किया, उनकी पीठ पर सुमेरु पर्वत 'रई' के स्थान पर अवस्थित हुआ। वासुकि नाग के साढ़े तीन फेरे उस पर्वत पर लगाये गए और उसके द्वारा मंथन कार्य संपन्न हुआ। कच्छप और सुमेरु मूलाधार चक्र में अवस्थित वह शक्ति बीज है, जो दूसरे कणों की तरह गोल न होकर चपटा है और जिसकी पीठ, नाभि ऊपर की ओर उभरी हुई है। इसके चारों ओर महासर्पिणी, कुंडलिनी साढ़े तीन फेरे लपेटकर पड़ी हुई है। इसे जगाने का कार्य, मंथन का प्रकरण उद्दाम वासना के उभार और दमन के रूप में होता है। देवता और असुर दोनों ही मनोभाव अपना-अपना जोर अजमाते हैं और मंथन आरंभ हो जाता है। कृष्ण की रासलीला का आध्यात्मिक रहस्य कुछ इसी प्रकार का है। उस प्रकरण की गहराई में जाने और विवेचन करने का यह अवसर नहीं है। अभी तो इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि कामुकता की

उद्दीप्त स्थिति को प्रतिरोध द्वारा नियंत्रित करने का पुरुषार्थ समुद्र मंथन से रत्न राशि निकालने का प्रयोजन पूरा करता है।

पंचकोशी साधना के अंतर्गत मानवी सत्ता के अंतर्गत विशिष्ट शक्ति स्रोतों-अद्भुत व्यक्तित्वों का विकास किया जाता है। कुंडलिनी साधना के अंतर्गत अपने अंदर बीज रूप में सन्निहित महाशक्ति को जागृत करके, उसके अधोगामी प्रवाह को रोककर बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है। ये साधनाएँ आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता से जोड़ने, उस स्तर तक पहुँचाने में समर्थ हैं। इनके लिए सामान्य साधना-क्रम से ऊपर उठ कर कुछ विशिष्ट साधना प्रकियाएँ भी अपनानी पड़ती हैं। उन्हें बहुत कठिन एवं दुर्लभ माना जाता है। ब्रह्मवर्चस् साधना-क्रम के अंतर्गत उन्हें यथासाध्य सुलभ एवं सुगम बनाकर प्रस्तुत किया गया है। ताकि हर स्थिति का व्यक्ति, थोड़ी तत्परता बरत कर उनका लाभ निर्भय होकर उठा सके।



साधना की क्रम व्यवस्था

पंचकोश अनावरण एवं कुंडलिनी जागरण साधनाओं को अति विशिष्ट एवं दु:साध्य साधनाएँ माना जाता रहा है। किसी हद तक यह उक्ति ठीक भी है, किंतु अपना प्रयास सदैव यही रहा है कि हर उपयोगी प्रक्रिया को यथासाध्य जनोपयोगी बनाया जाय। प्रभु कृपा से इस प्रकार के कार्यों में अब तक आशातीत सफलता भी मिली है। अत्यंत गूढ़ एवं कठिन समझी जाने वाली गायत्री साधना का जनोपयोगी बन जाना इसका प्रमाण है। देश-विदेश में करोड़ों व्यक्ति गायत्री साधना की सुगम विधि को अपनाकर वेदमाता की कृपा के अधिकारी बने हैं-बन रहे हैं। ब्रह्मवर्चस् साधना के अंतर्गत पंचकोशी एवं कुंडलिनी साधनाओं को भी उसी भाव से इस रूप में विकसित-प्रस्तुत किया गया है कि हर स्थिति का व्यक्ति थोड़ी-सी तत्परता बरत कर इन उच्चस्तरीय योगसाधनाओं का पर्याप्त लाभ प्राप्त कर सके।

ब्रह्मवर्चस् साधना के अंतर्गत दोनों ही साधनाओं का प्रमुख आधार ध्यान-धारणा को माना गया है। यही उचित भी है। मनुष्य के अंदर दो संघर्ष शक्तियाँ हैं-संकल्प एवं भाव संवेदना। इनमें शरीर के स्थूल अंगों से लेकर सूक्ष्म संस्थान तक हर पक्ष को प्रभावित करने की सामर्थ्य है। ध्यान-धारणा में इन्हीं को प्रखर बनाकर सुनिश्चित दिशा में नियोजित किया जाता है। इसीलिए पंचकोश जागरण एवं कुंडलिनी योग जैसी साधनाओं के लिए मुख्य आधार ध्यान-धारणा को ही बनाया गया है। यों हर साधना के साथ पाँच-पाँच सहायक साधनाएँ भी रखी गई हैं। उनका अभ्यास साधक

अलग से क्रमशः बढ़ाता रहता है। जैसे-जैसे उनमें गति बढ़ती है, वैसे ही वैसे साधकों की ध्यान-धारणा अधिकाधिक प्रखर-प्रगाढ़ होती चली जाती है। इस पुस्तक में साधना की मुख्य धारा ध्यान-धारणा की ही क्रम-व्यवस्था समझाई गई है। सहयोगी साधनाओं का दर्शन और स्वरूप भिन्न पुस्तक 'ब्रह्मवर्चस् की दस सहयोगी साधनाएँ' में दिया गया है।

उच्चस्तरीय साधना में अंत:शक्तियों को विशेष दिशा एवं धारा में प्रवाहित किया जाता है। उसके लिए संकल्प एवं भाव संवेदनाओं द्वारा उन्हें ठेला-ढकेला जाता है। शक्ति-धाराओं को किसी विशेष दिशा में लगाना असाधारण पुरुषार्थ का कार्य है। साधक अपनी शक्ति उसके लिए लगाता ही है, किंतु साथ ही दिव्य-शक्तियों का सहयोग भी माँगता है। गायत्री मंत्र के अंत में 'प्रचोदयात्' कहकर अपनी चेतना को श्रेष्ठ मार्ग पर ठेल कर बढ़ा देने की ही प्रार्थना की गई है। उच्चस्तरीय योगसाधना में इस धारणा को सामान्य प्रार्थना स्तर के ऊपर प्रखर संकल्प, व्याकुलता भरे आग्रह, प्रखर निर्देश में बदलना पड़ता है। तभी साधना प्राणवान बनती है।

पंचकोशीय साधना एवं कुंडलिनी योग दोनों के लिए संकल्प एवं भाव-संवेदना को दिशा देने के लिए निर्धारित-व्यवस्थित संकेत बना दिए गए हैं। इसी क्रम से ध्यान प्रयोग किया जाना चाहिए। हर संकेत के बाद थोड़ा समय दिया जाता है, ताकि अंत:चेतना उसे आत्मसात् कर सके, क्रियान्वित कर सके। प्रस्तुत निर्देशों के आधार पर ध्यान-धारणा में औसतन ४५ मिनट का समय लगता है।

संकेतों को ध्यान में रखकर स्वतः ही उस क्रम से ध्यान करना बहुत कठिन है। संकेतों को भली प्रकार आत्मसात् कर लेने पर ही वैसा संभव हो सकता है। स्मृति पर जोर डालते ही ध्यान में लगने वाली मानसिक शक्ति बिखर जाती है और ध्यान की प्रखरता घट

जाती है। अतः अच्छा यह है कि कुछ लोग सामूहिक रूप से ध्यान करने बैठें तथा एक व्यक्ति व्यवस्थित क्रम से संकेत बोलता रहे। इसके लिए टेप रिकार्डर का भी प्रयोग किया जा सकता है।

विशिष्ट साधना-क्रम का अभ्यास शांतिकुंज हरिद्वार में चलने वाले 'साधना' सत्रों में कराया जाता है। उपयुक्त वातावरण, प्रत्यक्ष मार्गदर्शन एवं समर्थ संरक्षण में की गई साधना का महत्त्व हर साधक जानता है। अस्तु प्रयास यही करना चाहिए कि साधना का प्रारंभ किसी सत्र में उसे विधिवत् सीख कर ही किया जाय। जब तक यह संभव न हो तब तक ध्यान-धारणा का अभ्यास अपने-अपने स्थान पर भी किया जा सकता है, किंतु साधनाओं को तो भली प्रकार समझे-सीखे बिना नहीं ही करना चाहिए। सहयोगी साधनाएँ भिन्न-भिन्न मनोभूमि के व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न ढंग से करनी होती हैं। उन्हें भली प्रकार समझ कर करना ही उचित है। एक बार सीख कर उन्हें व्यक्तिगत रूप से ही क्रमशः आगे बढ़ाते रहना भी संभव है। ध्यान-धारणा तो सामूहिक रूप से ही करना उचित है।

ध्यान-धारणा का अभ्यास क्रम अपने-अपने स्थानों पर सप्ताह में एक बार ही किया जाना चाहिए। सहयोगी साधनाओं का अभ्यास, अपनी स्थिति के अनुरूप प्रतिदिन भी किया जा सकता है। ध्यान-धारणा के लिए कोई कोलाहलहीन शांत स्थल चुनना चाहिए। प्रातःकाल ब्रह्म-मूहुर्त इसके लिए उपयुक्त समय है। सभी साधक स्वच्छतापूर्वक व्यवस्थित रूप से वहाँ बैठें। टेप अथवा किसी व्यक्ति द्वारा संकेतों को दुहराया जाय। संकेतों के आधार पर साधक ध्यान-धारणा का प्रयोग चालू रखें।

ध्यान-धारणा की प्रखरता एवं लाभ इस बात पर निर्भर है कि साधक ने उसके दर्शन को उसके मर्म को कितनी गहराई से समझा-अपनाया है? संकेत तो सबके कानों में समान रूप से कंपन उत्पन्न करेंगे, किंतु अपनी-अपनी अंतरंग तैयारी के आधार पर हर साधक के ध्यान की प्रगाढ़ता एवं उसके प्रभाव में भारी

अंतर होना संभव है। इसीलिए सप्ताह भर संकेतों के मर्म का अध्ययन-मनन तथा एक बार उन्हें क्रियान्वित करने का ध्यान प्रयोग चलाने की बात कही गई है। साधक अपनी रुचि एवं मन:स्थिति के अनुरूप किसी एक ध्यान को ही हर सप्ताह करते रह सकते हैं। यदि दोनों को चलाना चाहें तो क्रमश: एक बार पंचकोशी तथा एक बार कुंडलिनी जागरण का ध्यान-प्रयोग किया जाना उचित है। यहाँ प्रारंभ में ध्यान के संकेत दिये गए हैं तथा फिर उनके दर्शन, तत्त्व ज्ञान एवं स्वरूप का उल्लेख किया जा रहा है। ध्यान के किस निर्देश के साथ किस अनुभूति के लिए प्रयास किया जाय, इसके लिए हर स्थल पर भिन्न टाइप में एक-एक पैराग्राफ जोड़ा गया है।

यहाँ ध्यान रहे कि साधना मार्ग पर क्रमश: ही बढ़ा जा सकता है। उतावली में सामान्य लाभ भी हाथ से निकल जाते हैं। गायत्री के उच्चस्तरीय साधना-क्रम में प्रवेश करने वाले हर साधक को पहले सामान्य गायत्री साधना द्वारा अपने अंत:करण को इतना सबल बना लेना चाहिए कि उच्चस्तरीय प्रयोगों को वह सँभाल सके, चला सके। शांति कुंज के सत्रों में तो नए साधकों से भी समर्थ संरक्षण में साधना प्रारंभ करा दी जाती है, किंतु बाहर तो क्रमिक रूप से ही बढ़ना उचित है। प्रस्तुत ध्यान-धारणा की समग्र प्रक्रिया को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) **ध्यान भूमिका में प्रवेश**-यह प्रक्रिया ध्यान मुद्रा से प्रारंभ होकर सविता शक्ति से एकत्त्व-अद्वैत की अनुभूति तक चलती है। यह चरण पंचकोश एवं कुंडलिनी दोनों ही ध्यानों में समान रूप से समाविष्ट है।

(२) **विशिष्ट ध्यान प्रयोग**-इसके अंतर्गत ध्यान-धारणा द्वारा अंतरंग की शक्ति-धाराओं को पंचकोशी अथवा कुंडलिनी साधना के अनुरूप संचालित किया जाता है। इसके लिए दोनों प्रक्रियाओं में भिन्न-भिन्न क्रम निर्धारित हैं।

(३) समापन शांति–पाठ–यह प्रक्रिया विशिष्ट प्रयोग के बाद में की जाती है और दोनों प्रकार के ध्यान क्रमों में समान रूप से होती है। यह चरण असतो मा सद्गमय से प्रारंभ होकर पंचॐकार तक चलती है।

उपरोक्त आधार पर दोनों प्रकार के ध्यान के संकेत प्रारंभ एवं अंत में एक जैसे ही है, बीच में ही उनमें भिन्नता है। फिर भी सुविधा की दृष्टि से दोनों ही ध्यान प्रक्रियाओं के संकेत प्रारंभ से अंत तक अलग–अलग दिए गए हैं, किंतु व्याख्याओं में पुनरोक्ति उचित नहीं है। अस्तु ध्यान भूमिका में प्रवेश संकेतों की व्याख्या केवल पंचकोशी ध्यान की व्याख्या के साथ की गई है। बाद में कुंडलिनी जागरण के विशिष्ट ध्यान प्रयोग की ही व्याख्या की गई है। अंत में समापन शांति–पाठ खंड की व्याख्या की गई है।



उच्चस्तरीय गायत्री साधना

पंचकोश जागरण की ध्यान धारणा

१. ध्यान भूमिका में प्रवेश-

(क) सावधान-कमर सीधी, दोनों हाथ गोद में, आँखें बंद, स्थिर शरीर, शांत चित्त, ध्यान मुद्रा।

(ख) दिव्य साधना लोक-गंगा की गोद, हिमालय की छाया, सप्त ऋषियों का तप स्थान-शांतिकुंज, ब्रह्मवर्चस्, गायत्री तीर्थ, अखंड दीप, नित्य यज्ञ, नियमित जप, ब्रह्म संदोह, दिव्य-वातावरण, तीन दिव्यसत्ताओं का संरक्षण, दिव्य-साधना लोक।

(ग) प्रेरणा सद्गुरु देव की-भावानुभूति अपनी, संगम गंगा-यमुना का, संगम आत्मचेतना, ब्रह्मचेतना का।

(घ) भाव समाधि-वासना शांत, तृष्णा शांत, अहंता शांत, उद्विग्नता शांत।

(ङ) दिव्यदर्शन-प्रातःकाल, पूर्व दिशा, स्वर्णिम सूर्योदय, स्वर्णिम सूर्य, सविता-गायत्री का प्राण-सविता।

(च) सविता-इष्ट, लक्ष्य, उपास्य। सविता-प्रकाश, ज्ञान, प्रज्ञा। सविता-अग्नि, ऊर्जा, ब्रह्म-शक्ति, सविता-ब्रह्म, सविता-वर्चस्, सविता-ब्रह्मवर्चस्, सविता उपास्य, ब्रह्मवर्चस् उपास्य।

(छ) एकत्व, अद्वैत-साधक का सविता को समर्पण। समर्पण,विसर्जन, विलय, साधक-सविता एक, भक्त-भगवान एक।

२. विशिष्ट ध्यान प्रयोग-

(क) पंचकोश-आत्मसत्ता के पाँच कलेवर, गायत्री के पाँच मुख, चेतना के पाँच प्राण, काय-कलेवर के पाँच तत्त्व, अंतर्जगत के पाँच देव-पंचकोश-पंचकोश जागरण।

प्रथम अन्नमय कोश-(ख) केंद्र नाभि चक्र, अग्नि चक्र, शक्ति भँवर, समर्थ चक्रवात।

(ग) सविता शक्ति का प्रवेश-नाभिचक्र से-अन्नमय कोश में।

(घ) अन्नमय कोश में सविता-अग्नि-अन्नमय कोश में।

(ङ) अग्नि-'ओजस्', कण-कण में ओजस् , नस-नस में ओजस्, रोम-रोम में ओजस्।

(च) ओजस्-स्फूर्ति, उत्साह, ओजस् का जागरण, अग्नि चक्र का जागरण, अन्नमय कोश का जागरण।

द्वितीय प्राणमय कोश-

(छ) केंद्र मूलाधार चक्र, प्राण चक्र, शक्ति भँवर, समर्थ चक्रवात।

(ज) सविता शक्ति का प्रवेश, मूलाधार चक्र से प्राणमय कोश में।

(झ) प्राणमय कोश में सविता-विद्युत, प्राण विद्युत सविता, प्राणमय कोश सवितामय, विद्युतमय, विद्युत-पिंड, विद्युत पुंज।

(ञ) प्राण विद्युत-'तेजस्, कण-कण में तेजस्, नस-नस में तेजस्, रोम-रोम में तेजस्।'

(ट) तेजस्-प्रतिभा, पराक्रम, साहस। प्राण विद्युत का जागरण, मूलाधार चक्र का जागरण, प्राणमय कोश का जागरण।

तृतीय मनोमय कोश-

(ठ) केंद्र-भ्रूमध्य, आज्ञा चक्र, तृतीय नेत्र, शक्ति भँवर, समर्थ चक्रवात।

(ड) सविता शक्ति का प्रवेश,आज्ञा चक्र से मनोमय कोश में ।

(ढ) मनोमय कोश में सविता 'ज्योति'-मनोमय कोश सवितामय, ज्योतिर्मय, ज्योति-पिंड, ज्योति-पुंज।

(ण) ज्योति-'प्रज्ञा', कण-कण में प्रज्ञा ज्योति, नस-नस में प्रज्ञा ज्योति, रोम-रोम में प्रज्ञा ज्योति।

(त) प्रज्ञा-संतुलन, विवेक, प्रज्ञा जागरण, आज्ञा चक्र का जागरण, मनोमय कोश का जागरण।

चतुर्थ विज्ञानमय कोश-

(थ) केंद्र हृदय चक्र, ब्रह्म चक्र, शक्ति-भँवर, समर्थ चक्रवात।

(द) सविता शक्ति का प्रवेश, हृदय चक्र से-विज्ञानमय कोश में।

(ध) विज्ञानमय कोश में सविता-'दीप्ति'-विज्ञानमय कोश सवितामय, दीप्तिमय, दीप्ति-पिंड, दीप्ति-पुंज।

(न) दीप्ति-श्रद्धा-भक्ति, दीप्ति-दिव्य दृष्टि, अतींद्रिय क्षमता।

(प) कण-कण में दीप्ति, नस-नस में दीप्ति, रोम-रोम में दीप्ति, हृदय-चक्र का जागरण, सहृदयता का जागरण, श्रद्धा-भक्ति का जागरण, विज्ञानमय कोश का जागरण।

पंचम आनंदमय कोश-

(फ) केंद्र-मस्तिष्क मध्य सहस्रार चक्र, ब्रह्मरंध्र, शक्ति-भँवर, समर्थ चक्रवात।

(ब) सविता शक्ति का प्रवेश-सहस्रार से आनंदमय कोश में- अंतर्जगत का सूर्य, सहस्रार-स्वर्णिम सूर्य सहस्रार

(भ) आनंदमय कोश में सविता 'कांति'-आनंदमय कोश सवितामय, कांतिमय, कांति-पुंज,कांति-तृप्ति, तुष्टि, शांति।

(म) सहस्रार चक्र का जागरण, आत्मज्ञान का जागरण, ब्रह्मज्ञान का जागरण, आनंदमय कोश का जागरण, पंचकोशों का जागरण पंचतत्त्वों का जागरण, पंचप्राणों का जागरण, पंचदेवों का जागरण।

समापन शांति-पाठ-

(क) ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्माअमृतं गमय। तमसो मा, तमसो मा, तमसो मा ज्योतिर्गमय, ज्योतिर्गमय, ज्योतिर्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।

(ख) पंचॐकार, ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ।

समाप्ति शांति

कुंडलिनी जागरण की ध्यान धारणा

१. ध्यान भूमिका में प्रवेश—

(क) सावधान–कमर सीधी, दोनों हाथ गोद में, आँखें बंद, स्थिर शरीर,शांत चित्त, ध्यान मुद्रा।

(ख) दिव्य–साधना लोक–गंगा की गोद, हिमालय की छाया, सप्त ऋषियों का तप स्थान, शांतिकुंज, ब्रह्मवर्चस्, गायत्री तीर्थ, अखंड दीप, नित्य यज्ञ, नियमित जप, ब्रह्मसंदोह, दिव्य वातावरण तीन दिव्य सत्ताओं का संरक्षण, दिव्य–साधना लोक।

(ग) प्रेरणा सद्गुरु देव की, भावानुभूति अपनी, संगम–गंगा–यमुना का, संगम आत्मचेतना–ब्रह्म–चेतना का।

(घ) भाव समाधि–वासना शांत, तृष्णा शांत, अहंता शांत, उद्विग्नता शांत।

(ङ) दिव्य–दर्शन–प्रातःकाल, पूर्व दिशा, स्वर्णिम सूर्योदय, स्वर्णिम सूर्य–सविता, गायत्री का प्राण सविता।

(च) सविता–इष्ट, लक्ष्य, उपास्य, सविता–प्रकाश, ज्ञान, प्रज्ञा, सविता अग्नि, ऊर्जा, ब्रह्म–शक्ति, सविता ब्रह्म, सविता वर्चस्, सविता ब्रह्मवर्चस्, सविता उपास्य, ब्रह्मवर्चस् उपास्य।

(छ) एकत्व, अद्वैत, साधक का सविता को समर्पण, समर्पण–विसर्जन–विलय, साधक–सविता एक, भक्त–भगवान एक।

२. विशिष्ट ध्यान प्रयोग–

(क) सविता शक्ति का कुंडलिनी क्षेत्र में–मूलाधार मे प्रवेश, कुंडलिनी जागरण, कुंडलिनी प्राण विद्युत, जीवनी–शक्ति, योगाग्नि, अंतःऊर्जा ब्रह्म–ज्योति।

प्रथम चरण-मंथन-

(ख) सविता के सहयोग से, शक्ति क्षेत्र मंथन, मूलाधार मंथन, समुद्र मंथन, जीवन मंथन। मंथन-मंथन-मंथन। मंथन से अंत:ऊर्जा का संवर्धन, कुंडलिनी जागरण।

द्वितीय चरण-ऊर्ध्वगमन-

(ग) सविता सहयोग से जागृत शक्ति का ऊर्ध्वगमन, जीवनी-शक्ति का ऊर्ध्वगमन, कुंडलिनी का ऊर्ध्वगमन। ऊर्ध्वगमन-मूलाधार से सहस्रार तक-मेरुदंड मार्ग से। भू-लोक से ब्रह्मलोक तक-देवयान मार्ग से। जीवनी-शक्ति का ऊर्ध्वगमन, उत्थान, उत्कर्ष, अभ्युदय, कुंडलिनी जागरण।

तृतीय चरण-वेधन-

(घ) सविता सहयोग से षट्चक्रों का वेधन-प्राण विद्युत से शक्ति स्रोतों का उत्खनन, चक्रवेध-शब्दवेध-लक्ष्यवेध। वेधन-उत्खनन-जागरण, षट्चक्र जागरण, मूलाधार चक्र जागरण, स्वाधिष्ठान चक्र जागरण, मणिपूर चक्र जागरण, अनाहत चक्र जागरण, विशुद्धि चक्र जागरण, आज्ञा चक्र जागरण-कुंडलिनी जागरण।

चतुर्थ चरण-विस्तरण-

(ङ) सविता सहयोग से योगाग्नि का विस्तार, आत्मसत्ता का ब्रह्मसत्ता में विस्तार, चिनगारी का दावानल में विस्तार, ज्योति का ज्वाला में विस्तार। आत्मसत्ता का विस्तरण, प्रस्सरण, जागरण, कुंडलिनी जागरण।

पंचम चरण-परिवर्तन-

(च) सविता सहयोग से आत्म-ज्योति का ब्रह्म-ज्योति में परिवर्तन, क्षुद्रता का महानता में परिवर्तन, कामना का भावना में परिवर्तन, वियोग का संयोग में परिवर्तन, नर का नारायण में परिवर्तन।

(छ) कुंडलिनी महाशक्ति का समग्र, संस्थान पर आधिपत्य बंधन-मुक्ति, ईश्वर दर्शन, कुंडलिनी जागरण-महान जागरण।

समापन शांति-पाठ-

(क) ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय, तमसो मा, तमसो मा, तमसो मा ज्योतिर्गमय, ज्योतिर्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।

(ख) पंच ॐकार, ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ।



ध्यान-धारणा का आधार और प्रतिफल

भूमि का उर्वर और रत्नगर्भा होना सर्वविदित है। आकाश से जल और जीवन बरसने की बात भी सभी जानते हैं। समुद्र के उत्पादनों, अनुदानों का कोई वारापार नहीं। मानवीय सत्ता इन सबसे बढ़कर है। यदि व्यक्तित्व की गुप्त-प्रकट परतों को ठीक तरह समझा और सँजोया जा सके, तो इस हाड़-मांस की काया में देवताओं और अवतारों की झाँकी हो सकती है। पराक्रम और पुरुषार्थ के आधार पर ही संपदाएँ कमाई और सफलताएँ पाई जाती हैं।

काया का प्रत्येक अवयव अद्‌भुत है। उसकी संरचना और क्रिया शक्ति को जितना ही गहराई से देखा जाता है, उतना ही उसे रहस्यमय और आश्चर्यजनक पाया जाता है। इन सब अवयवों में मस्तिष्क सर्वोपरि है। उसके चेतन, अचेतन और उच्च चेतन की गतिविधियों को देखने से पता चलता है कि इसका अधिष्ठाता सूत्र संचालक जीवात्मा कितना महान होना चाहिए। लोक-व्यवहार की कुशलता, शिक्षा, अनुभव, कला, शिल्प आदि की अर्थ उपार्जन, यज्ञ संपादन, सुख-साधन जैसी क्षमताओं से सभी परिचित है। फलतः प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति अपनी और अपने स्वजनों की बौद्धिक क्षमता विकसित करने के लिए समुचित प्रयत्न करता है। शरीर सभी के लगभग एक जैसे मिलते-जुलते हैं। विशेषता मानसिक धरातल की है, जो उसे विकसित कर लेते हैं, वे अनेकानेक सफलताएँ पाते

हैं, जो इस क्षेत्र में पिछड़े रह जाते हैं, उन्हें अभावग्रस्त, कष्टसाध्य एवं घटिया स्तर पर गुजारा करना पड़ता है। जीवन की प्रगति-अवनति का बहुत कुछ आधार मनुष्य के बौद्धिक स्तर पर निर्भर रहता है।

यह सचेतन मस्तिष्क की प्रक्रिया हुई। अचेतन के आधार पर अवयवों की आंतरिक गतिविधियाँ चलती हैं। भली-बुरी आदतें उसी में जड़ें जमाए पड़ी रहती हैं। रुचियों एवं आकांक्षाओं की पटरी जिधर भी मुड़ती है, जीवन की रेल उसी भली-बुरी दिशा में दौड़ती चली जाती है। काय कलेवर का स्वरूप, आकर्षण, उसका पौरुष, कौशल बहुत करके अचेतन मस्तिष्क का निर्माण-कौशल होता है। विधि का विधान और भाग्य निर्धारण किन्हीं अज्ञात शक्तियों द्वारा बना कहा जाता है। इस रहस्यमय अज्ञात-व्यक्तित्त्व का स्रष्टा और कोई नहीं, मात्र अचेतन ही है, जो मस्तिष्क की गहन कंदराओं में बैठा जीवन की दिशा धाराओं का निर्धारण-सूत्र संचालन करता रहता है। मस्तिष्क विज्ञान के ज्ञाता कहते हैं कि मन:संस्थान के रहस्यों का बहुत थोड़ा अंश अभी जाना सका है। ज्ञात की तुलना में अविज्ञात कहीं अधिक विस्तृत है। मस्तिष्कीय क्षमताओं का एक अति स्वल्प भाग ही काम में आता है, यदि उसकी मूर्च्छाग्रस्त परतें जगाई और काम में लाई जा सकें तो सामान्य दीखने वाली मानवी काया में दैत्याकार शक्ति-सत्ता के दर्शन हो सकते हैं। यदि अचेतन पर नियंत्रण कर सकना संभव हो सके तो वह उक्ति अक्षरश: सत्य सिद्ध हो सकती है, जिसमें मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं निर्माता कहा गया है।

चेतन और अचेतन से ऊपर की परत उच्च चेतन (सुपर कांशस) की है। यह ब्रह्मांडीय चेतना के साथ अपना संपर्क साधती और आदान-प्रदान का द्वार खोलती है। सूक्ष्म-जगत में भरे हुए पदार्थ और चलते हुए प्रवाह अपने इस स्थूल जगत की तुलना में अत्यंत उच्चकोटि के हैं। उनके साथ आदान-प्रदान का सिलसिला

चल पड़े तो मनुष्य उन रहस्यमय जानकारियों से परिचित हो सकता है जो सर्वसाधारण को विदित नहीं। उन दिव्य सहायताओं को प्राप्त कर सकता है, जो सर्वसाधारण को उपलब्ध नहीं। स्थूल शक्तियों के सहारे स्थूल जगत के कुछ पदार्थ-साधन ही उपलब्ध हो पाते हैं, पर सूक्ष्म शक्तियों के सहारे सूक्ष्म जगत के ऐसे अनुदान प्राप्त किये जा सकते हैं, जिन्हें देव वरदान की संज्ञा दी जा सके। अतींद्रिय ज्ञान एवं आत्मबल के सहारे कितने ही चमत्कारी व्यक्तित्वों एवं घटना क्रमों के विवरण देखने-सुनने में आते रहते हैं। यह अपने ही उच्च चेतन मन की विशिष्टता है, जो सक्रिय होने पर अलौकिकता का परिचय देती है।

मस्तिष्कीय नियंत्रण अति कठिन है। आत्मसत्ता सर्वसमर्थ होते हुए असहायों, अनाथों, असमर्थों, और अभावग्रस्तों जैसा जीवनयापन करती है, इसका सर्वप्रमुख कारण एक ही है-आत्मनियंत्रण का अभाव। प्रवृत्तियाँ उच्छृखंल घोड़े की तरह मनमानी उछल-कूद मचाती रहती हैं। जब मनःस्थिति पर ही नियंत्रण नहीं तो परिस्थितियों पर काबू कैसे पाया जाय ? परिस्थितियों में सुधार तो हर कोई चाहता है, पर मनःस्थिति में हेर-फेर करना बन नहीं पड़ता, ऐसी दशा में सुख-शांति के मनोरथ अधूरे ही बने रहते हैं। तत्त्वदर्शी कहते रहे हैं, जिसने 'आत्मविजय कर ली, उसने संसार जीत लिया।' इस उक्ति में इतनी सचाई तो है ही कि आत्मनियंत्रण कर सकने पर अपने व्यक्तिगत संसार को इच्छानुकूल ढालना, इच्छानुरूप बनाना संभव हो जाता है। आत्म नियंत्रण का अर्थ है- अपने चिंतन तंत्र पर अपना अधिकार, अपना नियंत्रण स्थापित कर लेना। यह कार्य विचारों की अनियंत्रित उछल-कूद को इच्छित दिशा धारा में लगा सकने के रूप में उत्पन्न होता है। इसका अभ्यास ध्यान योग के द्वारा किया जाता है। मन के सामने कुछ स्वरूप कुछ विचार प्रस्तुत किए जाते हैं और उस पर दबाव डाला जाता है कि वह उसी केंद्र तक अपनी गतिविधियाँ सीमित रखे। अनियंत्रित उछल-कूद बंद करे। यों कह कार्य अति

कठिन है, पर सुदृढ़ संकल्प एवं सतत प्रयत्न से इसमें भी धीरे-धीरे सरलता होती और सफलता मिलती जाती है। मनोनिग्रह की आदत कभी रही नहीं। मन के पीछे ही अपना व्यक्तित्व घिसटता रहा है। कुसंस्कारी मन आलस्य-प्रमाद से लेकर दुर्व्यसनों, दुष्कर्मों और दुष्प्रवृत्तियों में रस लेने का अभ्यस्त रहा है। उसे रोका, सँभाला, साधा गया होता, तो कब का सुसंस्कृत बन गया होता और अपनी गणना श्रद्धास्पद सज्जनों में हो चुकी होती। अजस्र सहयोग और सम्मान सब ओर से बरस रहा होता। मन का अनगढ़पन ही है, जिसने प्रवृत्तियों और गतिविधियों को हेय स्तर का बनाकर पिछड़ेपन की वर्तमान दुर्दशा में पड़े रहने के लिए विवश कर दिया। परिस्थितियों में यदि चिरस्थायी सुधार करना हो तो मन:स्थिति में घुसी हुई विकृतियों का परिमार्जन करना होता है। इस परिमार्जन के लिए अपने ऊपर आप नियंत्रण स्थापित करने की कला सीखनी होती है। ध्यान योग का समूचा शास्त्र इसी उद्देश्य के लिए गढ़ा गया है।

ध्यान के कई उद्देश्य हैं-(१) अनगढ़ दिमागी उछल-कूद को नियंत्रित करना (२) नियंत्रित विचार शक्ति को अभीष्ट प्रयोजन में नियोजित कर सकना (३) एकाग्रता द्वारा बौद्धिक प्रखरता उत्पन्न करना (४) संकल्प-शक्ति को किसी भी केंद्र पर केंद्रित करके वहाँ चमत्कारी हलचलें उत्पन्न करना (५) चेतना की रहस्यमयी परतों को अपने ही मनोबल से उभारना, उछालना (६) अवांछनीय कुसंस्कारों का उन्मूलन (७)सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन (८) प्रतिकूलताओं के बीच भी संतुलन बनाए रहना (९) हर स्थिति में आनंद और उल्लास भरी मनोभूमि बनाए रहना (१०) अपनी विचार विद्युत से संपर्क क्षेत्र को प्रभावित करना और वातावरण में सुख-शांति संवर्धन के तत्त्वों को बढ़ा कर लोक-मंगल का पथ-प्रशस्त करना।

यह ध्यान-धारणा के लौकिक-बौद्धिक प्रयोग है। यह लाभ थोड़ी-सी सावधानी एवं तन्मयता के सहारे कोई नास्तिक समझा जाने वाला व्यक्ति भी उठा सकता है। यह ध्यान प्रक्रिया के

सामान्य एवं माध्यमिक स्तर का प्रयोग मात्र है, किंतु आज के बुद्धि एवं तर्क प्रधान व्यक्ति भी इसकी उपयोगिता से इनकार नहीं कर सकते। यह लाभ सामान्य श्रद्धा संवेदनायुक्त व्यक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

इससे आगे ध्यान के उच्चस्तरीय लाभ है। उसके लिए विशिष्ट श्रद्धा एवं भाव-संवेदनाओं से संपन्न अंत:करण की आवश्यकता पड़ती है। उसके अंतर्गत साधक अपनी चेतना को महत् चेतना से जोड़ सकता है। गुरू एवं इष्ट की शक्तियों को आकर्षित करना, उन्हें धारण करना, इसी स्तर के ध्यान प्रयोग से संभव होता है। आत्मतत्त्व को परमात्म तत्त्व से एकाकार करना इसी के सहारे संभव होता है। यह बात ठीक है कि मनुष्य में स्वत: ही अद्‌भुत शक्तियों का भंडार विद्यमान है और वह उन्हें अपने ही प्रयत्न-पुरुषार्थ से जागृत भी कर सकता है। प्राथमिक, माध्यमिक स्तर का ध्यान प्रयोग इसीलिए है, किंतु उच्चस्तरीय ध्यान प्रयोग में दिव्यात्माओं का प्रत्यक्ष संयोग पा सकना, मनुष्य की सीमित सत्ता से असीम सत्ता का योग-संयोग संभव है। ईश्वर प्राप्ति, जीवन-लक्ष्य प्राप्ति, आत्मा का परमात्मा से योग आदि ध्यान-धारणा के उच्चस्तरीय उद्‌देश्य है।

जिस प्रकार शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, सुसंपन्नता के संवर्धन में अपने-अपने संपर्क क्षेत्र की और सार्वजनिक हित साधन की संघटना बढ़ती है, उसी प्रकार मन:संस्थान के परिष्कृत और प्रखर बनने से भी व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। स्थूल जगत से हम अनेक प्रकार के लाभ अपने प्रत्यक्ष पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करते रहते हैं। सूक्ष्म जगत की विभूतियाँ और भी बढ़ी-चढ़ी हैं, उन्हें आकर्षित कर सकना जिस प्रचंड मनोबल द्वारा संभव होता है, उसे उत्पन्न करने के लिए ध्यान योग की प्रक्रिया अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध होती है। अनियंत्रित वन्य पशु अपने लिए हानिकारक ही बने रहते हैं, पर जब उन्हें पालतू-प्रशिक्षित कर लिया जाता है तो अनेक प्रकार के लाभ देने लगते हैं।

ठीक इसी प्रकार अपनी अनेक क्षमताओं को जब इच्छानुसार नियंत्रित एवं नियोजित करने की कुशलता हस्तगत हो जाती है तो उतने भर से व्यक्तित्व असाधारण रूप से समर्थ एवं सुसंस्कृत दृष्टिगोचर होने लगता है। बिना किसी दूसरे की सहायता के अपनी ऐसी आंतरिक प्रगति कर सकना मानवी जीवन की बहुत बड़ी सफलता है। इस उपलब्धि के सहारे कितने प्रकार की-कितनी अधिक मात्रा में सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, इसे देखते हुए ध्यान योग को किसी चमत्कारी देवता की सुनिश्चित आराधना करने के समतुल्य ही ठहराया जा सकता है।

ध्यान से भगवान प्राप्त होते हैं। आत्मसाक्षात्कार का अवसर मिलता है, निरोगता और बलिष्ठता का लाभ मिलता है, गुप्त शक्तियाँ जागृत होती है, ऋद्धि-सिद्धियों भरे वरदान प्राप्त होते हैं, इस प्रकार के अनेक लाभ साधना शास्त्र में गिनाए गए हैं। यह कथन यथार्थ है। चेतना की सामर्थ्य अनंत है। उससे लाभान्वित होने में एक ही बाधा है कि मनोनिग्रह की कला हस्तगत नहीं होती। जिसने इस कौशल में प्रवीणता प्राप्त करली, समझना चाहिए कि उसने अनेक देव-दानव वशवर्ती कर लिए।

पंचकोशों की ध्यान-धारणा से अपनी ही चेतना के पाँच प्राण-अपनी ही काया के पंच तत्त्व इतने प्रखर-परिष्कृत हो जाते हैं कि उन्हें दश दिक्पालों की-दश दिग्गजों की उपमा दी जा सके। गायत्री माता की पाँच मुखी प्रतिमाओं में अलंकारिक रूप से इन्हीं अंतर्जगत के पाँच देवों की शक्तियाँ सन्निहित होने का संकेत है। इस ध्यान-धारणा को यदि ठीक तरह किया जा सके तो उससे अंतजर्गत का शासन हाथ में आ जाता है और साथ ही सूक्ष्म जगत से महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान का लाभ मिलता है।

कुंडलिनी जागरण की ध्यान साधना में काय-कलेवर में बीज रूप से समाहित असंख्य शक्तियों के उद्भव एवं उपयोग का द्वार खुलता है। कुंडलिनी शरीरगत ऊर्जा है, जिसके सहारे भौतिक जगत

की अनेक शक्तियों को आकर्षित करके समर्थ-शक्तिवान बना जा सकता है। पंचकोश अनावरण में चेतना शक्ति की रहस्यमय परतों को उभारा जाता है। आत्मसत्ता को पंचकोशों के और कायसत्ता को कुंडलिनी के माध्यम से प्रखर बनाया जाता है। इस उभय-पक्षीय प्रयोजन की सिद्धि में अन्य साधनाओं के अतिरिक्त ध्यान-धारणा का सर्वोपरि स्थान है।

ध्यान की मोटी जानकारी सामान्य लोगों को इतनी ही होती है कि उस समय कोई तस्वीर सामने खड़ी रहनी चाहिए और मन उसमें रमा रहना चाहिए। यह स्थिति आती भी है,पर जिनकी मानसिक संरचना इस प्रकार के चित्र अपने संकल्प-बल से उभारने की होती है, उन्हीं को ऐसे कल्पना चित्र आरंभ में धुंधले पीछे अधिक स्पष्ट दीखते हैं, पर यह स्थिति हर किसी को प्राप्त नहीं हो सकती, यह मस्तिष्कीय विशिष्ट प्रकार की संरचना से ही संभव है। उनमें श्रद्धा एवं एकाग्रता का समन्वय करके इष्टदेव के अथवा दूसरे प्रकार के चित्रों को उभारने की सतत साधना जारी रखें।

ध्यान पर बैठते ही हर साधक को अभीष्ट दृश्य अनायास ही प्रकट होने लगेगें और वे मजे-मजे में फिल्म की तरह उसे देखते रहा करेंगे, ऐसी मान्यता बना लेना नितांत उपहास्यास्पद है और ऐसी है जिसका पूरा हो सकना किसी के लिए भी संभव नहीं है। भाव चित्र आरंभ में मूर्तियों या तस्वीरों के माध्यम से मस्तिष्क पर जमाये जाते हैं। उन्हें आँख खोलकर देखने और फिर आँखें बंद करके उसी दृश्य को देखने के त्राटक प्रयोग की तरह अभ्यास में उतारा जाता है, तब कहीं धीरे-धीरे आधे-अधूरे भाव चित्रों का निर्माण होता है और वह क्रमिक प्रगति आगे बढ़ती है।

हर मस्तिष्क की संरचना भाव चित्र उभारने, ध्यान में अभीष्ट दृश्य देखने की नहीं होती। अस्तु, इसके लिए ध्यान को केंद्रित करने के लिए दृश्ययोग का-बिंदुयोग का-अभ्यास नहीं कराया जाता है। मूल उद्देश्य

विचार प्रवाह के बिखराव को रोक कर एक सीमित प्रयोजन में केंद्रित होने का अभ्यास कराया जाता है। यह पाँचों ज्ञानेंद्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है। कर्णेंद्रिय के माध्यम से नादयोग, नासिका से गंधयोग, जिह्वा द्वारा रसना-योग, त्वचा द्वारा स्पर्श योग के अनेक विधान हैं, जिनमें सूक्ष्म नेत्रों द्वारा दृश्यों को देखा जा सकता है।

आरंभ के साधकों के लिए सबसे उपयुक्त यह है कि श्रेष्ठ विचारधारा के प्रवाह में बहने के लिए रास्ता बना लिया जाय, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, दार्शनिकों की ध्यान धारणा इसी प्रकार की होती है कि वे एक सीमित विचार पद्धति को अपनाकर उसी दायरे में अपने चिंतन क्रम को नियोजित किए रहते हैं और उसके आश्चर्यजनक सत्परिणाम उपलब्ध करते हैं। पंचकोशी, कुंडलिनी जागरण व ध्यान-धारणा में यही नीति अपनाई गई है। इसमें चिंतन प्रवाह मुख्य है। उसी के अनुरूप मानचित्र जितने भी उभर सकें, एक फिल्मी कथानक की तरह उभरते रहने चाहिए। इसमें इष्टदेव दर्शन की तरह किसी चित्र विशेष का कोई साक्षात्कार होना आवश्यक नहीं है। किसी विशेष चिंतन में सहज ही क्षण-क्षण में असंख्यों चित्र उभरते और लुप्त होते रहते हैं, इतने पर भी उसे ध्यान ही कहा जाता है। प्रस्तुत ध्यान-धारणा का भी यही स्वरूप है। उसमें जो निर्देश-संकेत दिए गए हैं, उनको यदि समुचित महत्त्व दिया जाय और तदनुरूप गहरा चिंतन चलता रहे तो समझना चाहिए कि ध्यान-धारणा का अभीष्ट प्रयोजन बिलकुल ठीक तरह पूरा हो रहा है और उसका सत्परिणाम निश्चित रूप से उपयुक्त ही होगा।



दिव्य-दर्शन का उपाय-अभ्यास

आँखें खोलकर जो प्रत्यक्ष पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें देखना या दर्शन कहते हैं। दर्शन प्रत्यक्ष है। भगवान का दर्शन स्थूल रूप से प्रतिमाओं एवं चित्रों के रूप में किया जाता है। विराट् दर्शन के रूप में भी प्रक्रिया संपन्न हो सकती है। इस निखिल ब्रह्मांड को ईश्वर की साकार प्रतिमा माना जा सकता है। पूजा कक्ष में-देव मंदिर में स्थापित प्रतिमाओं को भी भगवान के रूप में देखा जा सकता है। अवतारी महामानवों में, गुरुजनों में भी श्रद्धा का आरोपण करके उन्हें ईश्वर की चलती-बोलती प्रतिमा समझा जा सकता है। अभिनय के सहारे भी दिव्य प्रेरणाओं को आँखों के सहारे मस्तिष्क तक पहुँचाया जाता है। पुस्तकें पढ़ते हुए भी नेत्र सद्ज्ञान की सत्कल्पनाओं सहित मस्तिष्क में दिव्य स्थापनाएँ करते हैं। तीर्थों, नदियों, पर्वतों, वृक्षों, स्मारकों में ऐसी ही अनुभूतियाँ होती हैं। यह प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। स्थूल पदार्थों के सहारे चेतना को प्रभावित करने का यही तरीका है।

इससे आगे सूक्ष्म जगत में प्रवेश करने का प्रयोग आता है। इसमें जो देखा जाता है, वह पदार्थपरक नहीं, भाव निर्मित होता है। देखने के लिए चर्म-चक्षुओं से नहीं, ज्ञान-चक्षुओं से काम लिया जाता है। यही ध्यान-धारणा है। ध्यान में दिव्य-चक्षु ज्योतिर्मय करने पड़ते हैं। सामान्यतया वे धुँधले पड़े रहते हैं। कल्पना से जो देखा जाता है, वह प्रायः वही होता है जो चर्म-चक्षुओं से रुचिपूर्वक देखा जा रहा है। इसके अतिरिक्त जो देखा नहीं गया है या उपेक्षापूर्वक देखा गया है, उसका ध्यान

करने में विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। दिव्य चक्षुओं को जागृत करने का अभ्यास अंत:त्राटक के माध्यम से होता है। अंत:त्राटक में किसी आकर्षक वस्तु को पहले आँखें खोलकर प्रत्यक्ष रूप से विशेष रुचिपूर्वक देखा जाता है, पीछे आँखें बंद करके उस दृश्य को उसी स्थान पर उसी रूप में कल्पना द्वारा देखने की चेष्टा की जाती है। अभ्यास से कुछ समय में साधक का कल्पना तंत्र ऐसा हो जाता है कि जिसका ध्यान करना है, वह दिव्य-चक्षुओं से कल्पना क्षेत्र में अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगे। आरंभ में तो धुँधले एवं अस्थिर चित्र ही दृष्टिगोचर होते हैं। त्राटक देव प्रतिमाओं के माध्यम से किया जाता है। किसी मूर्ति या चित्र को पहले अधिक गंभीरता के साथ रुचिपूर्वक आँखें खोलकर देखा जाता है। पीछे आँखें बंद करके उसी प्रतिमा का ध्यान करते हैं, तो भाव-लोक में उसकी झाँकी होने लगती है। व्यक्ति विशेष के साथ घनिष्ट लगाव हो तो उसके ध्यान चित्र भी जागृति एवं सुषुप्ति में दृष्टिगोचर होते रहते हैं। वियोग आरंभ होने पर अथवा संयोग की निकटता पर आतुरता बढ़ जाती है और प्रियजनों की छवि मस्तिष्क में परिभ्रमण करती रहती है। यह बिना प्रयत्न के संपन्न हुआ त्राटक है।

दीपक के सहारे त्राटक अभ्यास का प्रचलन अधिक है। दीपक को प्रायः तीन फुट दूरी पर कंधों की ऊँचाई की सीध पर रखा जाता है। उसे दस सेकंड खुली आँखों से देखकर पलक बंद कर लिए जाते हैं और फिर उसी स्थान पर दीपक का दिव्य चक्षुओं से ध्यान किया जाता है। अभ्यास परिपक्व होने पर बिना दीपक की सहायता के भी जब इच्छा हो उस ज्योति के दर्शन किए जा सकते हैं। चंद्रमा, तारे, प्रात:कालीन सूर्य, बल्ब जैसे प्रकाशवान अन्य पदार्थों को कुछ क्षण देखकर पीछे उनको ध्यान के लिए चुना जा सकता है। पीछे कम प्रकाश की वस्तुएँ भी ध्यान के लिए चुनी जा सकती हैं। वृक्ष, जलाशय, मंदिर व्यक्ति विशेष आदि को भी इस अभ्यास के लिए

चुना सकता है। मेस्मेरिज्म में सफेद कागज पर काली स्याही से गोला बनाकर भी घूरने की क्रिया की जाती है। यही प्रयोजित वस्तु कुछ समय देखने और उस छवि को मस्तिष्क में जमा लेने पर अभीष्ट ध्यान करने में सरलता हो सकती है। प्रकाश ज्योति का या इष्टदेव की छवि का प्रायः इसी प्रकार ध्यान किया जाता है।

ध्यान में प्रधानतया रूप कल्पना ही प्रमुख रहती है। दिव्य चक्षुओं से कल्पना नेत्रों के सहारे भाव चित्रों को गढ़ा जाता है और उन्हें मनःलोक में देखा जाता है। यह ध्यान की अधिक प्रचलित प्रक्रिया है। अन्य ज्ञानेंद्रियों के सहारे भी ध्यान हो सकता है। कर्णेंद्रिय के सहारे शब्दों का ध्यान किया जाता है। शंख, घड़ियाल, घंटी, झाँझ आदि बजाना और फिर उस ध्वनि का ध्यान करना, यह स्थूल नादयोग है। सूक्ष्म जगत में अनाहत ध्वनियाँ विचरण करती हैं, उन्हें सूक्ष्म कर्णेंद्रिय से विशेष एकाग्रता एवं तन्मयता की मनःस्थिति बना कर सुना जाता है। इस प्रकार नाद श्रवण में कई प्रकार की दिव्य ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है। अधिक प्रगति होने पर इस नाद साधना के सहारे सूक्ष्म जगत के दिव्य संदेश सुने जा सकते हैं और अविज्ञात को विज्ञात की तरह जाना जा सकता है। नासिका से कोई तीव्र गंध सूँघना और उसे हटाकर ध्यान द्वारा उसी गंध की अनुभूति करना घ्राणेंद्रिय द्वारा ध्यान साधना का अभ्यास है। जिह्वा से मिर्च, मिश्री, नमक, नीबू जैसे स्वाद वाले पदार्थ चखना और पीछे वैसे ही स्वाद की अनुभूति करना रसना की ध्यान प्रक्रिया है। त्वचा से ठंडी या गर्म वस्तुएँ छूना फिर उन्हें हटाकर उसी प्रकार की अनुभूति करना यह स्पर्श की ध्यान साधना है। ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से किसी केंद्र बिंदु पर ध्यान एकाग्र करना त्राटक कहलाता है। इससे चेतना का बिखराव घटता और केंद्रीकरण का अभ्यास बढ़ता है। इस प्रकार केंद्रित शक्ति को ध्यान-धारणा या जिस भी लक्ष्य पर लगाया जाय, उसी में सफलता मिलती है। योग की परिभाषा करते हुए महर्षि पातंजलि ने उसे 'चित्त-वृत्तियों' का निरोध कहा है। इसका तात्पर्य

बिखराव के अपव्यय को रोककर उस संचय को उच्च उद्देश्य के लिए नियोजित करना ही है। ज्ञान चक्षुओं का-दिव्य चक्षुओं का उन्मीलन इस प्रक्रिया के सहारे संपन्न होता है।

यह तो हुई दिव्य चक्षुओं को कल्पना चित्र बना सकने के लिए सक्षम बनाने की प्रक्रिया। अब कल्पना चित्र-भाव चित्र गढ़ने का दूसरा प्रकरण आरंभ होता है। यह ध्यान-धारणा का उत्तरार्ध है। पूर्वार्ध में चित्र कल्पना गढ़ सकने वाले दिव्य नेत्र संस्थान को प्रखर बनाना है। दूसरा चरण यह है कि जो कल्पनाएँ उभरनी हैं, उनके दृश्यों को पूरी गंभीरता से संवेदना क्षेत्र में उतारा जाय। अनुभव किया जाय कि कल्पना नहीं, वरन् प्रत्यक्ष घटना है। सजगता, गंभीरता और तत्परता के साथ कोई भी कल्पना की जाय, साकार बनकर मन:क्षेत्र में आ उपस्थित होगी। भूत का भय जब मस्तिष्क पर पूरी तरह आच्छादित हो जाता है, तो कल्पना उस भूत की कल्पना ही नहीं गढ़ती, वरन् उसे साकार एवं सशक्त भी बना देती है। वह कल्पित भूत जो उत्पन्न करता है उसके लिए कई बार प्रत्यक्ष शत्रु से भी अधिक प्राण घातक सिद्ध होता है, पर यह भूत अन्यमनस्क कल्पना से उत्पन्न नहीं हो सकता। उसके लिए वास्तविक बन सकने वाली सघन सक्रियता की आवश्यकता होती है। इससे कम में ध्यान के लिए आवश्यक कोई प्रतिमा, घटना या प्रक्रिया प्रत्यक्ष नहीं हो सकती।

निर्धारित ध्यान के समय पर ही अभीष्ट भाव चित्र उभारे जायँ तो समुचित सफलता न मिलेगी। होना यह चाहिए कि अभिनय के रिहर्सल की तरह अवकाश के समय उसका अभ्यास करते रहा जाय। पहले पात्रों को उस अभिनय का अभ्यास रिहर्सल कई-कई बार करना होता है। जब वे वैसा कर सकने में अभ्यस्त हो जाते हैं तब फिल्म खींचने का क्रम चालू होता है। ठीक यही प्रक्रिया ध्यान के लिए जो दृश्य प्रत्यक्ष करना है उसका सुविधा के समय पूर्वाभ्यास करना आवश्यक है।

ब्रह्मवर्चस् ध्यान-धारणा में किसी प्रतिमा विशेष पर चित्त को केंद्रित करना नहीं सिखाया जाता, वरन् एक दिशा धारा के प्रवाह में बहना पड़ता है। आरंभ की कक्षा में गायत्री माता की छवि पर ध्यान केंद्रित करना-उनके अंग-प्रत्यंग को, वस्त्र-आभूषण, वाहन, उपकरण आदि को भक्ति-भावनापूर्वक निहारते रहना पर्याप्त होता है। प्रथम वर्ग के साधकों के लिए गायत्री माता का ध्यान कराया जाता है। अबोध शिशु का माता से ही परिचय होता है। वही उसका लालन-पालन करती है। थोड़ा बड़ा होने पर पिता से परिचय होता है। वस्त्र, शिक्षा, विवाह, उद्योग आदि के लिए पिता के अनुदान की आवश्यकता पड़ती है-पर वह भी तब जब बच्चा कुछ बड़ा हो जाता है। आयु वृद्धि के साथ-साथ माता के दुलार की आवश्यकता घटती और पिता के अनुदान की आवश्यकता बढ़ती है। गायत्री माता और सविता पिता है। उच्चस्तरीय साधना में सविता की उपासना की जाती है। ध्यान-धारणा में उसी की प्रमुखता रहती है। सो भी मात्र प्रकाश पिंड को दिव्य चक्षुओं से देखने भर से काम नहीं चलता, वरन् उसके प्रेरणा प्रवाह को आत्मसत्ता के प्रत्येक क्षेत्र में ओत-प्रोत करना होता है। इसमें पूरा विचार प्रवाह बन जाता है। एक फिल्म जैसी स्थिति बन जाती है।

ध्यान-धारणा का उच्चस्तर है। केंद्रित करना तो बिखराव की रोकथाम भर है। मात्र केंद्रित करना ही लक्ष्य नहीं है। केंद्रित शक्ति को किसी-न-किसी दिशा धारा में प्रयुक्त करने पर ही उसका कुछ सत्परिणाम निकल सकता है। मेस्मेरिज्म अभ्यास का आरंभ काले-गोरे का ध्यान एकाग्र करने से होता है। पीछे उस केंद्रीकरण को चिकित्सा-उपचार आदि में नियोजित करना पड़ता है। बाँध में पानी रोका जाता है। बंदूक की नली में बारूद केंद्रित की जाती है, पीछे उसे कोई निशाना बेधने के लिए दाग दिया जाता है। विचारों के बिखराव को केंद्रित करना ध्यान का प्रथम चरण और पीछे उसे वैज्ञानिक शोध, साहित्य सृजन जैसे भौतिक कार्यों में अथवा अध्यात्म

तत्त्व दर्शन में-ब्रह्म संदोह में नियोजित कर दिया जाता है। ब्रह्मवर्चस् ध्यान साधना में सविता शक्ति को पाँच कोशों अथवा कुंडलिनी शक्ति के साथ संयुक्त करके उससे उपयोगी फसल उगाने जैसे सत्परिणाम उत्पन्न करने होते हैं। इसलिए यह एकाग्रता मात्र की प्रक्रिया नहीं है, वरन् उसमें आत्मसत्ता के विभिन्न पक्षों को परिष्कृत करने के विशेष उद्देश्य सन्निहित रहने से भाव चित्रों का भी पूरा विस्तार है।

ध्यान-धारणा के समय निर्दिष्ट भाव चित्र ठीक प्रकार उभरने लगे, अनुभूतियाँ उसी प्रकार होने लगें जैसे कि निर्देशन में बताई गयी हैं। इसके लिए नियत समय के अतिरिक्त भी प्रयोग एवं अभ्यास करते रहना चाहिए। वह अभ्यास भी विधिवत् अभ्यास से थोड़ा बहुत ही कम रहता है, निरर्थक नहीं जाता और उत्साहपूर्वक सत्परिणाम उत्पन्न करता है। आरंभ में धुँधले, अधूरे चित्र रहें, चित्त पूरी तरह न जमे, तो निराश नहीं होना चाहिए, वरन् प्रयत्नपूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिए। धीरे-धीरे भाव चित्र अधिक स्पष्ट होने लगेंगे और बीच-बीच में जो शृंखला टूटती थी वह भी न टूटेगी। यह सब समय-साध्य है। अस्तु तत्काल ही सफलता न मिले तो भी श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रयत्न रहना चाहिए। देर सबेर में ध्यान की परिपक्वावस्था अवश्य आवेगी।

कई बाल बुद्धि लोग भाव चित्रों को उभारने का प्रयत्न करते नहीं, उलटे इस प्रकार की आशा करते हैं, कि जिस प्रकार टेलीविजन के काँच पर तस्वीरें आती हैं वैसे ही कुछ चित्र-विचित्र दृश्य अपने आप ही दीखने लगेंगे। हमें तो मात्र दर्शक की तरह चुपचाप बैठे देखते भर रहना पड़ेगा। यह तो ऐसा ही उपाहासास्पद है जैसे कि बगीचा लगाने का परिश्रम किए बिना ही उद्यान की प्रस्तावित भूमि पर आकाश से अनायास ही फल-फूलों की वर्षा होने लगेगी, ऐसा हो सकना असंभव है। निर्देशन को सुन लेने, पढ़ लेने या मन में दुहरा लेने भर से ध्यान-धारणा के भाव चित्र अपने आप

उभरने या दीखेने लग जाएँगे, यह सोचना तो ऐसा ही है कि बिना व्यायामशाला के अभ्यास का झंझट किए ही, दंगल जीतने का पहलवानी का यश तथा पुरस्कार मिल जाएगा। प्रतिफल तो प्रयत्नों का ही होता है,जो इस तथ्य को जानते हैं, वे धैर्यपूर्वक दिव्य-चक्षुओं को ज्योतिर्मय बनाने तथा भाव चित्रों को गढ़ सकने वाली उर्वर कल्पना शक्ति का विकास करते हैं। ऐसे लोगों को ब्रह्मवर्चस् ध्यान साधना सफलता के स्तर तक पहुँचाती है, वे पाँच कोशों के अनावरण में-रत्नराशि को खोद निकालने में सफल होकर ही रहते हैं।



१. ध्यान भूमिका में प्रवेश

(क) ध्यान मुद्रा -

ध्यान धारणा के लिए शरीर को स्थिर और मन को शांत रखना आवश्यक है। शरीर में हलचल होती रहेगी, अंग हिलते-डुलते रहेंगे तो वह स्थिरता उत्पन्न न हो सकेगी जो ध्यान साधना में आवश्यक होती है। इसी प्रकार मन की घुड़दौड़ चलती रहेगी, विचारों और कल्पनाओं की भगदड़ मची रहेगी, तो चित्त पर दिव्य चेतना का अवतरण और अभीष्ट भाव चित्रों का उद्भव बन नहीं पड़ेगा। दर्पण हिलता रहे तो उसमें ठीक तरह दीख न पड़ेगा। घोड़ा उछल-कूद कर रहा हो, तो उस पर सवार होना कठिन है। मन के घोड़े पर सवारी करने के लिए आवश्यक है कि ध्यान के समय मस्तिष्क उत्तेजित न हो, शांत रहे। इसी प्रकार शरीर के हलचल करते रहने से नाड़ी संस्थान में उत्तेजना उत्पन्न होती है और मन की चंचलता बढ़ जाती है। इसलिए ध्यान के समय शरीर को स्थिर, शिथिल एवं मन को शांत रखना आवश्यक है।

ध्यान धारणा के लिए मुद्रा बनाकर बैठना चाहिए। ध्यान मुद्रा के पाँच अंग है- (१) स्थिर शरीर (२) शांत चित्त (३) कमर सीधी (४) दोनों हाथ गोदी में (बाँया नीचे, दाहिना ऊपर) (५) आँखें बंद। पालथी सामान्य रीति से मारनी चाहिए। पद्मासन, सिद्धासन आदि पर पैंतालिस मिनट तक बिना दबाव अनुभव किए बैठे रहना कठिन है। पैरों पर तनाव-दबाव उत्पन्न हो, तो ध्यान ठीक तरह लग नहीं सकेगा। इसलिए साधारण पालथी मार कर सुखासन से बैठना ही उचित है। प्रयत्न यह करना चाहिए कि पैंतालिस मिनट तक पैर न बदलने पड़ें, पर यदि घुटनों में दर्द,

जकड़न आदि की शिकायत हो तो बदल भी सकते हैं। यह विवशता की बात हुई, चंचलतावश पैरों को, शरीर के अन्य अवयवों को चलाते-मटकाते रहना निषिद्ध है। बीमारी की स्थिति में आराम कुर्सी पर भी बैठा जा सकता है और पैर फैलाने की छूट विवशता के कारण मिल सकती है।

ध्यान मुद्रा में बैठकर शरीर को ही नहीं बहिरंग वृत्तियों को भी शांत करें। मस्तिष्क से हर अंग को शांत-स्थिर रहने के संकेत भेजें। वृत्ति अंतर्मुखी होने पर शरीर में हलकापन लगने लगता है, बहुधा हृदय की धड़कन के स्पंदन सारे शरीर में सहज ही अनुभव होने लगते हैं। ध्यान को इसी हलकेपन अथवा स्पंदन पर केंद्रित करें, इससे बाहरी चिंतन की ओर मस्तिष्क नहीं जायगा।

(ख) दिव्य वातावरण-

उपयुक्त स्थान एवं वातावरण होने पर सफलता की संभावना सुनिश्चित होती है। कृषक एवं माली यह जानते हैं कि किस धान्य या पौधे को किस प्रकार की जमीन में तथा किस ऋतु में बोया जाय। इसका ध्यान न रखा जाय तो बीज और श्रम उपयुक्त होने पर भी परिणाम की दृष्टि से घाटे में रहना पड़ता है। जल-वायु का स्वास्थ्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसे सभी जानते हैं। साधना के लिए घर में एकांत एवं स्वच्छ स्थान तलाश किया जाता है। भावनात्मक दृष्टि से भी अधिक पवित्र और प्रभावी वातावरण की आवश्यकता होती है। तीर्थों का जो पुण्य-फल गाया गया है उसमें उन दिनों का वहाँ का प्रभावी वातावरण ही मुख्य कारण था। उस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ब्रह्मवर्चस् साधना के लिए सप्त ऋषियों के ऐतिहासिक तप स्थान की भूमि का चयन किया गया है। गंगा अपनी पवित्रता और हिमालय अपनी शांति-शीतलता के लिए प्रसिद्ध है। यह प्रभाव शरीर और मन दोनों पर पड़ता है, इसलिए भगवान कृष्ण से लेकर प्रायः सभी उच्चकोटि के अध्यात्म-साधकों को गंगा की गोद और

हिमालय की छाया का आश्रय लेना पड़ा है। वातावरण उपयुक्त गतिविधियों से बनता है।

साधकों को सहज स्थिरता एवं प्रेरणा मिलती रहे, प्रगति का प्रवाह अनायास ही चल पड़े, इसके लिए शांति-कुंज के ब्रह्मवर्चस् आरण्यक को समर्थ गायत्री तीर्थ के रूप में विकसित किया गया है। अखण्ड दीप, नित्य यज्ञ, नियमित जप तथा ब्रह्म अनुसंधान के लिए स्वाध्यायात्मक सत्संग का संदोह यहाँ निरंतर विद्यमान रहता है। अन्यान्य अदृश्य एवं अविज्ञात शक्तियाँ भी इस क्षेत्र पर अपने अमृत भरे पोषक तत्त्वों की वर्षा करती रहती हैं। यही कारण है कि घटिया, अस्त-व्यस्त अथवा असामान्य वातावरण में की गई साधनाओं की तुलना में इस दिव्य वातावरण का प्रभाव साधना की सफलता को असंख्य गुनी सुनिश्चित बनाता है। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष संरक्षण यहाँ उपलब्ध ही रहता है। मुर्गी की छाती की गर्मी से जिस प्रकार अंडे पकते हैं, उसी प्रकार यहाँ की संरक्षण शक्तियाँ साधना को परिपक्व एवं फलित बनाती है।

जिनके लिए यहाँ रहकर साधना कर सकना संभव हो, वे इस अवसर का लाभ लें। इसके अतिरिक्त जब घर या अन्यत्र रह कर साधना करनी हो तो उस दिव्य वातारण में अपनी स्थिति मानकर उस प्रक्रिया को पूरा करना चाहिए। पूजा, आचमन में चरणामृत की, स्नान-जल में तीर्थ-जल की, प्रतिमा में देवता की भावना करके पुण्यफल प्राप्त किया जाता है। पुण्य तीर्थ में रहकर साधना करने की भावना से भी मन को बहुत अंशों में उस प्रकार के प्रभावी वातावरण का लाभ मिल जाता है।

ध्यान-धारणा के समय नेत्र बंद करके पहले अपनी आत्मसत्ता को ब्रह्मवर्चस् के दिव्य वातावरण में पहुँचने तथा वहाँ के प्रभावों से लाभान्वित होने की भावना जमाने से बहुत कुछ साधना की सफलता का आधार बन जाता है। संकल्प भरी मन:स्थिति से भी अभीष्ट परिस्थिति का लाभ मिल जाता है।

ध्यान मुद्रा में रहकर साधक यह अनुभव करें कि वे शांति-कुंज में ही बैठे हैं। उनके चारों ओर हवन की दिव्य सुगंधि फैली है। गंगा की शीतलता सर्वत्र व्याप्त है। ऋषियों, पवित्र आत्माओं के प्रभाव से वातावरण में दिव्य आलोक भरा है। अपने चारों ओर दिव्यसत्ताओं का तेजोवलय एक दिव्य कवच के रूप में घेरा डाले हुए है। उन सबके संयुक्त प्रभाव से अंदर से दिव्य भावों-आवेगों की हिलोरें सी उठ रही हैं।

(ग) गंगा-यमुना का संगम-

ब्रह्मवर्चस् साधना के अंतर्गत की जाने वाली ध्यान-धारणा के दो पक्ष हैं-(१) जिस दिव्य सत्ता की प्रेरणा एवं इच्छा योजना के आधार पर यह प्रक्रिया चलती है, उसके द्वारा प्रेषित किए गए दिव्य अनुदान। (२) साधक के स्वकल्पित भाव चित्र। इस प्रकार इस प्रयोजन में दो व्यक्तित्वों का समान, सहयोग एवं योगदान बनता है। साधना की सफलता के लिए यह संगम अतीव फलप्रद सिद्ध होता है।

छात्र अपने श्रम और मनोयोग से पढ़ता, अच्छे नंबरों से पास होता, श्रेय प्राप्त करता और उसके सत्परिणामों से लाभान्वित होता है। इतने पर भी उसकी सफलता के पीछे अभिभावकों द्वारा साधन, सुविधा जुटाने तथा कुशल अध्यापक द्वारा रुचिपूर्वक पढ़ाने का सहयोग भी अति महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है। यदि अभिभावक भोजन, वस्त्र, पुस्तक, कापी, फीस, स्कूल का चयन, विषय निर्धारण आदि का मार्गदर्शन सहयोग न करें तो अपने बलबूते स्वावलंबनपूर्वक साधन जुटाना और पढ़कर अच्छी सफलता पाना कठिन हो जाएगा। इसी प्रकार यदि अध्यापक का योगदान न मिले तो अपने आप पढ़ते रहने और पास होते रहने की स्थिति कष्टसाध्य और संदिग्ध रह जायेगी। कुछ विषय तो ऐसे होते हैं, जिनमें अध्यापक के बिना कुछ संभव ही नहीं। शिल्प, संगीत, सर्जरी, इंजीनियरिंग आदि के छात्रों

को यदि क्रियात्मक शिक्षण न मिले तो उनकी प्रगति अवरुद्ध ही पड़ी रहेगी।

ब्रह्मवर्चस् की ध्यान-धारणा के साथ साधक द्वारा निर्देशित भाव चित्रों को अपने कल्पना लोक में जमाना और उभारना तो मुख्य एवं आवश्यक है ही, पर उसके साथ ही निर्देशकर्ता के मनोबल एवं प्रेरणा स्रोत का आत्मबल संपन्न अनुदान भी कम सहायक सिद्ध नहीं होता। जहाँ भी इस प्रकार के सुयोग बनते हैं, वहाँ सफलता की संभावना अत्यधिक बढ़ जाती है। इसलिए इसे त्रिवेणी संगम की उपमा दी गई है।

यह ध्यान साधना, विशिष्ट आत्माओं को अपेक्षाकृत अधिक सुनियोजित रीति से लक्ष्य तक पहुँचा देने की योजना है। संस्कारवान व्यक्ति ही इसमें देर तक ठहर सकेंगे। अपरिपक्व मनोभूमि के चंचल चित्त एवं दुर्बल आस्था वाले इतना प्रकाश ग्रहण एवं धारण न कर सकेंगे। जो ठहरें उन्हें समुचित लाभ मिले, इस लाभ को ध्यान में रखते हुए ब्रह्मवर्चस् साधना के छात्रों को अभिभावक और अध्यापक की भूमिका निभाने वाली विशिष्ट शक्तियों की सहायता सम्मिलित की गई है। एकाकी साधक गंगा है। उसका प्रयत्न नदी की धारा कहा जा सकता है। इसमें यमुना, सरस्वती का सहयोग और मिल जाने से तीर्थराज प्रयाग बनता है और उस संगम का पुण्य-फल अत्यधिक बढ़ जाता है। प्रस्तुत साधना का सत्परिणाम भी इसी स्तर का है।

दिव्य वातावरण के बीच प्रफुल्ल चित्त, उत्साहित साधक अनुभव करें कि वे अकेले नहीं हैं। उन्हें साधना मार्ग का लाभ देने के लिए एक विशेष शक्ति प्रवाह उमड़ रहा है। अपने अंदर का उत्साह-साधना की ललक एक लहर के रूप में उमड़ कर उसके साथ एकाकार हो जाती है। इससे एक नयी अद्भुत सामर्थ्ययुक्त उल्लास की लहर उत्पन्न होती है। साधना क्षेत्र में

बड़े से बड़ा कदम बढ़ाने का आत्मविश्वास, साहस जाग जाता है।

(घ) भाव समाधि-

शांति और समाधान की दो स्थिति होती हैं-एक शरीरगत निद्रा, दूसरी मनोगत समाधि। मानसिक समाधान को शांति-स्थिरता, संतुलन को समत्व, साम्य, स्थिति-प्रज्ञता एवं समाधि कहते हैं। यह स्थिति प्राप्त होने पर उसमें साधना के बीजाकुंर भली प्रकार जमते एवं परिपुष्ट होते हैं। शरीर का समाधान निद्रा से होता है। सभी जानते हैं कि निद्रा की आवश्यकता आहार से कम नहीं होती।

योगनिद्रा का अर्थ है-शरीर की उद्विग्नता और तनाव की स्थिति को संकल्प के सहारे हटा दिया जाना। यों वह स्थिति गहरी नींद में ही प्राप्त होती है, पर शिथिलीकरण मुद्रा, शवासन, शरीर निःचेष्ट होने के संकल्प द्वारा भी इसे प्राप्त किया जा सकता है। इस संकल्प तंद्रा को योगनिद्रा कहते हैं। इसमें शरीर तो तनावहीन हो ही जाता है, किंतु संकल्प जागृत रहता है। संकल्प भी शिथिल हो जाय तो वह स्थिति सामान्य निद्रा की हो जाती है। ध्यान-धारणा में शारीरिक तनाव दूर करने के लिए यह स्थिति जितनी मात्रा में प्राप्त हो सके उतनी ही उत्तम है। शरीर और मन को शिथिल करने का संकल्प जितना गहरा होगा, उतनी ही वह स्थिति प्राप्त होगी और ध्यान का समुचित लाभ मिलेगा।

भाव क्षेत्र को-मानसिक संतुलन को उत्तेजित, उद्विग्न, अस्त-व्यस्त एवं भ्रष्ट करने वाली कुछ थोड़ी-सी ही दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। उन्हें यदि संयत किया जा सके तो मस्तिष्क, दूरदर्शिता एवं विवेकशीलता से भरी पूरी स्थिति में रह सकता है। असंतुलित होने पर अत्यंत हानि पहुँचाने वाली चार प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं। (१) वासना (२)तृष्णा, (३) अहंता (४) उद्विग्नता। इन्हीं की विकृत स्थिति से दृष्टिकोण गर्हित बनता है और गतिविधियों में भ्रष्टता भर जाती है। ऐसे अशांत मन से दैनिक जीवन के सामान्य काम काज भी ठीक तरह नहीं हो

पाते, फिर साधना का तो सारा आधार ही शांत एवं उत्कृष्ट मनःस्थिति पर ही खड़ा होता है। तूफान और भँवर में फँसकर नावें डूबती हैं। आंतरिक अशांति से पूरा जीवन ही नारकीय एवं कुमार्गमार्गी बन जाता है।

ध्यान-धारणा के समय तक इन चारों का प्रकोप न हो, पीछे भी उनका आक्रमण न हो, इस उद्देश्य से ब्रह्म वर्चस् ध्यान साधना में इन शत्रुओं के खतरे से मन को सावधान किया जाता है और उन्हें प्रकोप से बचाए रहने वाली शांत शालीनता का आह्वान किया जाता है। यह संकल्पित लक्ष्मण रेखा यदि सुस्थिर बनी रहे तो चित्त में समाधि जैसा समाधान प्रतीत होता है और लक्ष्य की दिशा में ध्यान की सही प्रगति होने लगती है।

अनुभव करें कि दिव्य संगम से जागृत दिव्य उल्लास की लहरें, सारे शरीर एवं मनःसंस्थान में तीव्रता से प्रवाहित हो रही हैं। अहंता आदि विकार उसकी ठोकर से धुएँ-कालिमा के रूप में बाहर निकल रहे हैं। अंतःकरण में दिव्य शांति का आभास हो रहा है।

(ङ, च, छ) दिव्य-दर्शन एकत्व-

दिव्य-दर्शन का अर्थ है-प्रकृति के पदार्थ साधनों के महत्त्व एवं आकर्षण से आगे की चेतनात्मक उत्कृष्टता की झाँकी। इसी को आत्मदर्शन या ईश्वर दर्शन कहते हैं। आँख जड़ तत्त्वों से बनी है, उनसे भौतिक पदार्थ ही दीख पड़ते हैं। आत्मा और उसका परिष्कृत रूप परमात्मा भी चेतन है। इसलिए उन्हें इंद्रियों से नहीं देखा जाता। मात्र भावानुभूति की जाती है। सीमित आत्मा से असीम परमात्मा को स्पर्श करने पर जो अलौकिक अनुभूतियाँ होती हैं, उहें ही दिव्य-दर्शन कहा जाता है।

ध्यान एवं मस्तिष्कीय अनुभूतियों को जगाने के लिए दिव्यता के कुछ प्रतीक गढ़ने पड़ते हैं। इन्हें ही देव कहते हैं। देवत्व का सर्वोत्तम प्रतीक सविता है। सविता का कलेवर सूर्य है। सविता

तेजस्वी ब्रह्म को कहते हैं। सूर्य उदीयमान अग्नि पिंड को। प्रातःकालीन सूर्य स्वर्णिम, सौम्य होता है। स्वर्ण सबसे भारी, कोमल एवं बहुमूल्य धातु है। उस पर जंग नहीं चढ़ती। सुनहरेपन के विशिष्ट सौंदर्य से तो सभी परिचित हैं। इन स्वर्ण विशेषताओं के कारण स्वर्णिम कांति वाले प्रातःकालीन सूर्य को सविता का प्रतीक माना जाता है। ध्यान-धारणा में वही सर्वोत्तम है। गायत्री का प्राण-देवता सविता है। उस महामंत्र में सविता से ही सद्बुद्धि की याचना की गई है। संप्रदाय विशेष में तो अनेक आकृति-प्रकृति के देवी-देवताओं की मान्यता, पूजा एवं ध्यान धारणा का विधान है, किंतु ब्रह्मसत्ता का प्रतीक-प्रतिनिधि प्रायः सभी धर्मों में तेज पुंज को, ज्योति को, प्रकाश को माना गया है। सूर्य उसका सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। अग्नि को भी उसी का प्रतीक मानकर धूप, दीप, अग्निहोत्र आदि के रूप में उसकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती है। प्रकाश ध्यान के अनेक विधानों को प्रकारांतर से सूर्य पूजा ही समझा जा सकता है। ब्रह्मवर्चस् की ध्यान-धारणा में गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में सविता को ही इष्टदेव माना गया है। उसी को लक्ष्य, उपास्य एवं आराध्य भी कहते हैं।

सविता को यों नियमितता, श्रम संलग्नता, प्रकाश वितरण, जीवन-दान, विकृति विनाश, जागरण, एकाकी विचरण, मार्गदर्शन आदि असंख्य ऐसी विशेषताओं का पुंज माना गया है जो मनुष्य के लिए ग्रहणीय एवं अनुकरणीय है, किंतु सबसे बड़ी सर्वोपरि विशेषताएँ दो ही हैं-(१) प्रकाश (२) गर्मी। इनमें से प्रकाश को ज्ञान, प्रज्ञा, विवेक का-और गर्मी को अग्नि ऊर्जा एवं शक्ति का, प्रतीक माना गया है। इन्हीं दो आधारों को जीवन-लक्ष्य तक पहुँचाने वाली दो टाँगें कह सकते हैं। ज्ञान को आत्मिक और बल को भौतिक शक्ति कह सकते हैं। ज्ञान को ब्रह्म और शक्ति को वर्चस् कहते हैं। इन दोनों का समन्वय ब्रह्मवर्चस् है। यह सविता का नाम है। ज्ञान की आध्यात्मिक और बल की भौतिक शक्ति का इसमें समन्वय है । सर्वतोमुखी प्रगति के लिए इन दोनों ही सामर्थ्यों को उपार्जित करना

पड़ता है। सविता उपासना में इ[illegible] ही उपलब्धि पाने के लिए प्रयत्नशील रहने का संकेत है। सूर्य को इष्टदेव मानने का अर्थ है-- उसमें सन्निहित विभूतियों को उपलब्ध करने का लक्ष्य निर्धारित करना। इनको उपासना, आराधना करना। उपासना, आराधना अर्थात् आकांक्षा और चेष्टा। ब्रह्मवर्चस् की ध्यान-धारणा में सविता की झाँकी दिव्य नेत्रों से की जाती है। साथ ही उसकी सत्ता को, विशेषता समूह को जीवन का लक्ष्य एवं इष्ट माना जाता है। साथ ही सन्निहित विभूतियों को उपास्य-आराध्य घोषित करते हुए उस प्रयास में संलग्न होने का साहस सँजोया जाता है। सविता का दिव्य-दर्शन आँखें बंद करके दिव्य नेत्रों से दर्शन करने की प्रक्रिया के पीछे इन्हीं आधारों का समावेश है।

दर्शन स्थापना है। उसकी पूर्णता घनिष्ठता को बढ़ाते-बढ़ाते एकता के स्तर तक पहुँचाने पर होती है। मंदिरों में देव-दर्शन करना, यह प्रथम चरण है। देवताओं में साधना, श्रद्धा और गहन भक्ति-भावना से उस एकत्व अद्वैत की स्थिति विनिर्मित होती है जिसमें भक्त और भगवान के बीच प्रत्यक्ष आदान-प्रदान चल पड़ते हैं। दो तालाबों को किसी नाली द्वारा परस्पर संबद्ध कर दिया जाय तो दोनों के पानी का स्तर समान हो जाता है। भक्त और भगवान भी इस सघन श्रद्धा-भक्ति के आधार पर एक होते हैं। दोनों की आकांक्षा, दृष्टि एवं गतिविधियों में जितनी एकता-एकरूपता बनती जाती है, उसी अनुपात से दोनों की सत्ता भी समान गुण, धर्म की बनती चली जाती है। ऐसे सच्चे भक्तों का स्तर भी प्रायः भगवान के समतुल्य ही हो जाता है। उन्हें अवतार, ऋषि आदि नामों से संबोधित किया जाता है। आत्मसंतोष एवं सृष्टि-संतुलन की दृष्टि से भी उनकी स्थिति अत्यंत उच्चस्तरीय होती है।

एकत्व वह स्थिति है जिसे ईश्वर प्राप्ति, बंधन मुक्ति आदि नामों से जाना जाता है। वेदांत दर्शन में इस स्थिति को अद्वैत कहा गया है। इसमें द्वैत मिटता है, भिन्नता समाप्त होती है, अद्वैत बनता है। एकता

की वह आकांक्षा पूर्ण होती है, जिसके लिए गंगा रूपी आत्मा, परमात्मा रूपी समुद्र से मिलने के लिए आतुरतापूर्वक दौड़ती और उद्विग्न रहती है। गंगा सागर का संगम तीर्थ स्थान है। आत्मा और परमात्मा का मिलन जब अद्वैत स्थिति बनता है तो जीव को ब्रह्मरूप में और ब्रह्म को जीव रूप में देखा जा सकता है। इसी स्थिति को शास्त्रकारों ने सोऽहम्, शिवोऽहम्, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि आदि शब्दों में व्यक्त किया है।

इस स्थिति को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय समर्पण है। इस स्थिति में साधक अपनी निजी आकांक्षाएँ त्यागता है और ईश्वरीय इच्छा को अपनी आकांक्षा मान लेता है। तब वासना, तृष्णा और अहंता में से एक की पूर्ति के लिए भी उद्विग्नता-आतुरता नहीं रहती। लोभ और मोह में एक भी विचलित नहीं करता। संकीर्ण स्वार्थपरता का स्थान उदात्त परमार्थ ग्रहण कर लेता है। अपने को बांसुरी मानकर वादक के होठों से चिपका देता है। कठपुतली की तरह अपने धागे बाजीगर की उँगलियों के साथ जोड़ देता है। यही आत्मसमर्पण है। इसी को विलय, विसर्जन, समन्वय, समापन कहा जाता है। नाला गंगा में मिलकर गंगा बन जाता है। बूँद की तुच्छ सत्ता इसी आधार पर समुद्र बनने का गौरव अनुभव करती है। ईंधन आग के साथ मिलकर अग्नि रूप बनता है। पतंगा दीपक की लौ में आत्मसात हो जाता है। इसी प्रकार भक्त भगवान में अपने 'अहं' का विलय-विसर्जन करता है। शरणागति का तात्पर्य है-आश्रय ग्रहण करना। आश्रय का अर्थ यहाँ सुरक्षा नहीं, वरन् स्वामी की आकांक्षाओं के, अनुशासन के आश्रित हो जाना है। लोहा चुंबक से सटे रहने के उपरांत अपने में भी चुंबकीय विशेषता उत्पन्न कर लेता है। चंदन के समीप उगे पौधे तक सुगंधित हो जाते हैं। नमक पानी में घुलकर अपनी सत्ता का विर्सजन कर देता है और तद्रूप हो जाता है। भक्त में भगवान की विशेषताएँ, गरिमाएँ प्रकट होने लगें तो समझना चाहिए कि समर्पण का एकत्व प्रयोजन पूर्ण होने जा रहा है।

सविता के अनेकानेक सद्‌गुणों में से साधक के व्यक्तित्व ओजस्, तेजस्, वर्चस् जैसे जितने गुण प्रकट होते चलें, उतने ही में समर्पण सार्थक हुआ समझना चाहिए।

(ङ) भावना करें कि हमारा मुख पूर्व दिशा को है। सामने प्रातःकाल का स्वर्णिम सूर्य उदय हो रहा है। सविता का तेज, गायत्री का प्राण, स्वर्णिम आभा रूप में सारे ब्रह्मांड में हमारे चारों ओर भर रहा है। हम स्वर्णिम प्रकाश के समुद्र के मध्य में किसी जल-जीव की तरह स्थिर हैं।

(च) स्वर्णिम सविता के प्रति अपने सर्वाधिक प्रिय स्नेही-इष्ट का भाव बढ़ाएँ। वह हमारे परम कल्याण के लिए दिव्य ऊर्जा, ब्रह्मवर्चस् का विस्तार कर रहा है। अपनी दिव्य किरण रूपी बाहों से हमें, हमारी आत्मचेतना को गोद में उठा लेने को, आत्मसात् कर लेने को आतुर है।

(छ) हमारी आत्मचेतना भी उसकी ओर लपकती है। जैसे पास-पास लाने पर दीपकों की ज्योति एकाकार हो जाती है, दीपक-पतंग की तरह, वायु-गंध की तरह हम उससे लिपट कर एकाकार हो जाते हैं। आग-ईंधन की तरह, बिंदु-सिंधु की तरह एक रूप हो रहे हैं। अद्‌भुत आनंद की अनुभूति हो रही है।



२. पंचकोशों का स्वरूप

पाँचकोशों को पाँच शरीर ही माना गया है-(१) अन्नमय कोश को फिजिकल बॉडी (२) प्राणमय कोश को ईथरिक बॉडी (३) मनोमय कोश को एस्ट्रल बॉडी (४) विज्ञानमय कोश को कॉस्मिक बॉडी (५) आनंदमय कोश को कॉजल बॉडी कहते हैं। अन्नमय कोश ऐसे पदार्थों का बना है जो आँखों से देखे और हाथ से छुए जा सकते हैं, जिस पर शल्य क्रिया और चिकित्सा-उपचार का प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त चार शरीर ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों से बने हैं जो इन्द्रियगम्य तो नहीं है, किंतु बुद्धिगम्य अवश्य हैं। उनके अस्तित्व का परिचय उनकी गतिविधियों से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओं को देखकर आसानी से जाना जा सकता है। जीवित मनुष्य में आँका जाने वाला विद्युत प्रवाह, तेजोवलय एवं मरने के बाद प्रेत-सत्ता के रूप में अनुभव आने वाला कलेवर प्राणमय कोश कहा जाता है। मानसिक कल्पनाओं, बौद्धिक प्रखरताओं के फलस्वरूप जो विज्ञान, कला, साहित्य आदि के क्षेत्रों में चमत्कारी उपलब्धियाँ सामने आती हैं, वे मनोमय कोश की कृतियाँ कही जा सकती हैं।

यों प्राण को नाड़ी समूह में काम करने वाली और कोशिकाओं में उभरने वाली बिजली के रूप में आँका जा सकता है। मन को मस्तिष्क के अणुओं में लिपटा हुआ पाया जा सकता है। फिर भी यह प्राण और मन चेतना के स्वतंत्र स्तर हैं जो नाड़ी संस्थान और मस्तिष्क संस्थान के माध्यम से प्रकट होते हैं। यों तो आत्मा का परिचय भी शरीर के माध्यम से ही मिलता है, फिर भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व शरीर से भिन्न

है। विज्ञानमय कोश चेतना की तरह है, जिसे अतींद्रिय-क्षमता एवं भाव-संवेदना के रूप में जाना जाता है। आनंदमय कोश वह है, जिसके सजग होने पर आत्मबोध होता है और स्थितिप्रज्ञ की, जीवन मुक्त की, परमहंस की दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है।

सामान्यतया चेतना की दिव्य परतें प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं। उनका बहुत थोड़ा अंश ही कामकाजी दैनिक जीवन में प्रयुक्त होता है। शेष सुरक्षित पूँजी की तरह जमा रहता है। साधनात्मक पात्रता सिद्ध करने पर ही उन प्रसुप्त विभूतियों को प्राप्त किया जा सकता है। पिता द्वारा उत्तराधिकार में छोड़ी गई संपत्ति का स्वामित्व तो बच्चों का हो जाता है, पर वे उसे स्वेच्छापूर्वक उपयोग तभी कर सकते हैं, जब वयस्क हो जाते हैं। अल्प वयस्क रहने तक उस संपदा का स्वामित्व दूसरे संरक्षकों के हाथ में ही रहता है। बीज में विशाल वृक्ष की समग्र संभावनाएँ सन्निहित रहती हैं, किंतु उसका विस्तार उगाने, सींचने की कृषि विद्या के सहारे ही होता है। जीवात्मा बीज है, उसमें कल्पवृक्ष बनने की समस्त संभावनाएँ विद्यमान हैं, उन संभावनाएँ को साकार बनाने की सफलता साधना द्वारा ही उपलब्ध होती है।

पंचकोश जागरण का उद्‌देश्य यही है कि अंतर्जगत की इन पाँचों प्रचंड धाराओं को मूर्च्छना की स्थिति से उबारा जाय और प्रखर प्रेरणा से सिद्धि-समर्थता के रूप में विकसित किया जाय। तीन शरीरों के अंतर्गत ही पाँच कोश आते हैं। स्थूल शरीर और अन्नमय कोश एक ही बात है। सूक्ष्म शरीर में प्राणमय और मनोमय कोश आते हैं-कारण शरीर में विज्ञानमय और आनंदमय कोशों की गणना की जाती है। विभाजन दोनों ही प्रकार किया जा सकता है। तीन शरीर एवं पाँचकोश, यह ऐसी ही गणना है जैसा कि एक रुपया या चार चवन्नी में अंतर दीखता है। बारह मास या बावन सप्ताह मोटे तौर से भिन्न मालूम पड़ते हैं, पर वे वस्तुतः हैं एक ही। इसी प्रकार तीन

शरीर एवं पाँच कोशों को वर्गीकरण की सुविधा ही कहा जा सकता है। शरीर को सिर, धड़ एवं पैरों के रूप अथवा त्वचा, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा के रूप में वर्गीकृत किया जाय, शरीर की मूल सत्ता में कोई अंतर नहीं आता।

तत्त्ववेत्ताओं के मतानुसार पाँचों कोश असाधारण क्षमता संपन्न हैं। जिस प्रकार प्रत्येक शुक्राणु में एक बालक उत्पन्न करने की क्षमता होती है, उसी प्रकार पाँच कोशों में से प्रत्येक में अपने ही स्तर का एक स्वतंत्र देव पुरुष गढ़ लेने की क्षमता होती है। अलाद्दीन के चिराग के साथ पाँच जिन्न कहे गए हैं, जो इशारा पाते ही बड़े-बड़े काम कर दिखाते थे। विक्रमादित्य की कथाओं में उसके पाँच दिव्य शरीरधारी पाँच 'वीर' होने की बात कही जाती है। वे भी ऐसे ही काम कर दिखाते थे जो शरीरधारी मनुष्यों के बलबूते के नहीं थे, यह उत्पादन आत्मसत्ता का है। यह 'वीर' 'जिन्न' या 'देव पुरुष' वस्तुतः अपनी ही चेतना द्वारा उत्पन्न की गई संतानें होती हैं। छाया पुरुष के बारे में कहा जाता है कि अपनी ही क्षमता को धूप में खड़े होकर अथवा दर्पण के सहारे सिद्ध कर लिया जाय तो वह शरीर रहित, शरीरधारी सेवक की तरह आज्ञापालन करती और बताए काम पूरे करती है। अपने ही स्तर का एक नया व्यक्तित्त्व उत्पन्न कर लेना छाया पुरुष कहलाता है। पाँच कोशों में छाया पुरुष जैसे पाँच समर्थ व्यक्तित्त्व प्रकट, उत्पन्न, सिद्ध कर लेने की गुंजाइश है। वे विश्वस्त एवं समर्थ सहयोगी मित्रों की तरह सहायता करने में निरंतर जुटे रह सकते हैं।

प्रस्तुत साधना में इन कोशों को जागृत-सशक्त बनाने के लिए उनसे संबंधित विशिष्ट केंद्रों, चक्रों में सविता शक्ति के प्रवेश एवं संचार का ध्यान प्रयोग किया गया है। हर कोश से एक विशेष चक्र का संबंध है। यह चक्र दो तरह की क्षमता रखते हैं--एक आकर्षण-ग्रहण की, दूसरी संचार-प्रसारण की। इसीलिए इनकी संगति भँवर एवं चक्रवात से बिठा ली जाती है। भँवर में जो चीज पड़ती है वह

अंदर खींच ली जाती है, यह ग्रहण की प्रक्रिया है। चक्रवात में पड़ कर हर वस्तु ऊपर उठती है, दूर तक फैल जाती है, यह संचरण का प्रतीक है। सविता शक्ति के प्रभावों से केंद्रों की यह दोनों क्षमताएँ और अधिक विकसित होती हैं। दिव्य अनुदानों को ग्रहण करना, आत्मसंस्थान में संचरित करना, दूसरों की संवेदनाओं की अनुभूति, अपनी संवेदनाओं का फैलाव, विकारों का निष्कासन आदि इसी आधार पर संभव होता है। अतः कोशों के जागरण अनावरण क्रम में इन केंद्रों की शक्ति एवं क्रिया-कलापों का भली प्रकार समावेश किया जाना आवश्यक है।

ध्यान करें सविता देवता के प्रकाश से अपने अंतजर्गत में प्रभात जैसी स्थिति पैदा हुई है। हर अवयव, हर कोश जाग रहा है, सविता शक्ति का पान करके सशक्त-तेजस्वी बनने के लिए आतुर है। शरीर में अनेक तरह के दिव्य प्रवाह पैदा हो रहे हैं।



२. (क) अन्नमय कोश

अन्नमय कोश-प्रत्यक्ष शरीर को-स्थूल शरीर को कहते हैं, क्योंकि यह अन्न अर्थात आहार के ऊपर निर्भर है। आहार न मिले तो उसका मरण निश्चित है। अच्छा-बुरा अन्न मिलने से वह स्वस्थ-अस्वस्थ बनता है। यहाँ अन्न की परिधि में ठोस खाद्य-पदार्थ ही नहीं-जल और वायु भी आते हैं। तीनों को मिलाकर ही शरीर की आवश्यकता पूर्ण होती है। इसलिए वे तीनों ही अन्न हैं। अथवा तीनों से मिलकर अन्न बनता है। इन पर निर्भर रहने वाली काया को अन्नमय कोश कहा गया है।

आँखों से जो दिखाई पड़ता है, वह अन्नमय कोश का सर्वविदित इंद्रियगम्य स्वरूप है। इसे देखा, जाना, समझा और औजारों से काटा-बदला जा सकता है। इसके भीतर एक और सत्ता है जिसे जीवन कहते हैं। यह जीवन आत्मा और शरीर के सम्मिश्रण से बनता है। जब तक दोनों संयुक्त हैं, तब तक प्राणी जीवित कहा जाता है, जब दोनों एक दूसरे से पृथक हो जाते हैं तो जीवन की समाप्ति हो जाती है। जीवित रहने की स्थिति तक आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। यह स्थिति बदल जाने पर उसे मात्र आत्मा अथवा प्रेतात्मा आदि कहने लगते हैं। यह जीवन शरीर के कण-कण में संव्याप्त है। कोशिकाओं-तंतुओं में यही जीवन अपना काम करता है। ब्रह्मांड क्षेत्र में काम करने वाली शक्ति अपने ढंग से अपना काम कर रही है। उसकी प्रेरणा से ग्रह-नक्षत्र, निहारिकाओं की ज्ञात-अविज्ञात हलचलें होती रहती हैं और उत्पादन, अभिवर्धन, परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। ठीक इसी प्रकार काया में मस्तिष्कीय नीहारिका

की मूल सत्ता के साथ जुड़े हुए हृदय, फुफ्फुस, यकृत, आमाशय, गुर्दे आदि अवयव अपने-अपने क्षेत्रों का शासन सँभालते हैं। उनकी गतिविधियाँ और कार्य पद्धति अपने-अपने ढंग की अनोखी है। उनका सृजन, अभिवर्धन, परिवर्तन अपने क्षेत्र में ऐसा है, जिसे विलक्षण एवं परिपूर्ण कहा जा सकता है। इतने पर भी वे सभी अवयव और उनके साथ जुड़े हुए घटक अन्यान्य क्षेत्रों की आवश्यकता की पूर्ति में पूर्ण सहकारिता का परिचय देते हैं। जिस प्रकार सृष्टि की विभिन्न शक्तियाँ और गतिविधियाँ इस विराट् के साथ संतुलन मिला कर चलती हैं, वही बात अपने शरीर में भी है। इकालॉजी-संतुलन विज्ञान के आधार पर जाना जा सकता है कि इस समूचे ब्रह्मांड की स्थिति किसी विराट् पुरुष के शरीर जैसी है और यहाँ जो कुछ है, जो कुछ हो रहा है वह एक दूसरे का पूरक है। ठीक इसी प्रकार इस शरीर के अवयव और परमाणु सभी अपने-अपने स्तर की गतिविधियाँ चलाते हुए भी समग्र शरीर की सुव्यवस्था में पूर्णरूप से सहयोगी है।

एनाटॉमी शरीर रचना का एक शास्त्र है। इस संरचना के कौशल को देखकर चकित रह जाना पड़ता है कि किसी कलाकार ने कितनी कुशलता एवं दूरदर्शिता के साथ इसे संजोया है और इसका प्रत्येक अंग अपने कार्य में कितना समर्थ एवं कितना कुशल है। इससे आगे का शास्त्र 'फिजियोलॉजी' है। इसे अवयवों की आचार, संहिता, रीति-नीति एवं स्वाभाविक गुण-धर्म कह सकते हैं। यह अवयवों का अध्यात्म एवं धर्म-शास्त्र है। फिजियोलॉजी और एनाटॉमी दोनों का समन्वय ही शरीर-शास्त्र के सामान्य ज्ञान की आवश्यकता पूरी करता है।

शरीर का जितना परिचय यंत्रों की सहायता से समझा जा सकता है, उससे अधिक वह भाग है जो कि बुद्धिगम्य है। इसे काया का तत्त्व ज्ञान कह सकते हैं। इस कायिक तत्त्वज्ञान द्वारा जिस सत्ता की विवेचना होती है, उसे तत्त्व शरीर कह सकते हैं। काया को पाँच

तत्त्वों से विनिर्मित कहा जाता है। यह तात्त्विक सम्मिश्रण भी प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष है, स्थूल नहीं सूक्ष्म है।

इन सब रहस्यों पर विचार करने पर रहस्यमय काय सत्ता का अस्तित्व सामने आता है। इसे ही अन्नमय कोश कह सकते हैं। संक्षेप में अन्नमय कोश के दो भाग किये जा सकते हैं–एक प्रत्यक्ष–स्थूल। दूसरा परोक्ष–सूक्ष्म। दोनों को मिलाकर ही एक पूर्ण काया बनती है। शरीर–शास्त्र स्थूल है। अध्यात्म–शास्त्र सूक्ष्म। साधना क्षेत्र में स्थूल का उपयोग परिशोधन एवं संतुलन भर के लिए होता है। यथा आसन, प्राणायाम, नेती, धौति, बस्ति, वज्रोली, कपाल भाति, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, स्नान आदि की क्रियाएँ अध्यात्म की परिधि में गिने जाने पर भी स्थूल शरीर के परिशोधन और संतुलन की आवश्यकता ही पूरी कर पाती हैं। इन क्रियाओं के पीछे जो दर्शन, प्रकाश एवं संकेत है, सूक्ष्म अध्यात्म के साथ उतना भाग ही जुड़ता है। अध्यात्म शास्त्र की उच्च भूमिकाएँ वे हैं जो शरीर की अपेक्षा चेतन को अधिक प्रभावित करती हैं। पंचकोशों की चर्चा अध्यात्म शास्त्र के अंतर्गत आती है। वे शरीर शास्त्र से भिन्न हैं। अस्तु अन्नमय कोश को काय–कलेवर के साथ जोड़ा तो जा सकता है, किंतु शरीर ही अन्नमय कोश है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। अन्नमय कोश का स्थूल पात्र यह शरीर भी है, इतना कहकर ही संतोष करना पड़ेगा।

पंचकोशों की ध्यान धारणा में जिस अन्नमय कोश का ऊहापोह किया गया है, उसे जीवन शरीर कहना अधिक उपयुक्त होगा। जीवन सत्ता इंद्रियगम्य है, वही बुद्धिगम्य है। यही है वह गहन सत्ता जिसके आधार पर काया की स्थिति बहुत कुछ निर्भर रहती है। कई बार आहार–विहार की अनुकूलता रहने पर भी शरीर अस्वस्थ रहता है और उपयुक्त चिकित्सा करने पर भी दुर्बलता एवं रुग्णता से छूट नहीं पाता। योगी लोगों का आहार–विहार बहुत बार ऐसा देखा जाता है जिसे शरीर शास्त्र की दृष्टि से हानिकारक कहा जा सकता है, फिर भी वे निरोगी,

और दीर्घजीवी देखे जाते हैं, इसका कारण उनके जीवन शरीर का परिपुष्ट होना ही होता है। इतना परिपुष्ट जिसके ऊपर प्रकृति की विपरीत गतिविधियों का भी विशेष प्रभाव न पड़े। हिमाच्छादित प्रदेश में नंगे रहने पर सामान्य मनुष्य एक दिन में शीतग्रस्त हो जायगा, किंतु योगी लोग चिरकाल तक वहाँ नग्न स्थिति में बिना किसी कठिनाई के निवास करते रहते हैं, इसी प्रकार पूर्ति ऐसे घास-पात से कर लेते हैं जो आहार शास्त्र की दृष्टि से अखाद्य एवं कुपोषण वर्ग का कहा जा सकता है, इस पर भी उनका नीरोग तथा दीर्घजीवी बने रहना यह सिद्ध करता है कि उनका जीवन शरीर इतना परिपुष्ट है जिस पर इन प्रतिकूलताओं का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

वस्तुतः अध्यात्म शास्त्र में इसी जीवन शरीर को प्रधान माना गया है और अन्नमय कोश के नाम से इसी की चर्चा की गई है। यों प्रत्यक्ष शरीर को भी उसकी परिधि से बाहर नहीं किया जा सकता। उपमा के रूप में दोनों को आत्मा और शरीर की तरह एक दूसरे का पूरक सहयोगी कहा जा सकता है।

अन्नमय कोश की साधना में इसी सूक्ष्म भाग को-जीवन शरीर को-जागृत, परिपुष्ट, प्रखर एवं परिष्कृत करने की विधि-व्यवस्था है। इस प्रयास में जितनी सफलता मिलती है उसी अनुपात से शरीर इस योग्य बना रहता है कि आत्मिक उद्देश्यों की पूर्ति भली-भाँति कर सके। अन्नमय कोश की साधना एवं ध्यान-धारणा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है।

(ख) ध्यान करें-स्थूल शरीर, छोटे-बड़े अंग, नसों, नाड़ियों, मांस-पेशियों का जाल। यह सभी छोटी-छोटी जीव-कोशिकाओं से बने हुए। हर कोशिका एक स्वतंत्र इकाई। उनकी अपनी-अपनी सामर्थ्य, गुण, स्वभाव। हर इकाई को दिव्य सत्ता से प्रभावित करने की संकल्प युक्त तैयारी। इनका केंद्र नाभि, हर अंग का उससे सूक्ष्म संबंध। नाभि में दिव्य प्रकाश की भँवर जैसी शक्ति। 

२. सविता अवतरण का ध्यान

अन्नमय कोश के जागरण में सविता शक्ति का उपयोग किया जाता है। पंचकोश साधना गायत्री उपासना का ही उच्चस्तरीय योगाभ्यास है। गायत्री मंत्र एवं उसके जपात्मक अनुष्ठान की परिधि को गायत्री माता कहते हैं। ज्ञान और विज्ञान के आधार वेद-ज्ञान की जननी होने के कारण उसे वेदमाता भी कहा जाता है। गायत्री का प्राण सविता है। उच्चस्तरीय गायत्री साधना में सविता शक्ति का आश्रय लिया जाता है। पाँचों कोशों के जागरण में हर बार उसी के सहारे प्रगति होती है। अन्नमय कोश को जागृत करने में भी सविता शक्ति का ही आह्वान-अवतरण किया जाता है।

ध्यान के प्रारंभिक भाग में सविता को इष्ट, लक्ष्य, उपास्य, आराध्य रूप में अंतःकरण में प्रतिष्ठित किया जाता है। एकत्व-समर्पण में उसी के साथ घनिष्ठता, तन्मयता स्थापित की जाती है। अन्नमय कोश की साधना में ध्यान-धारणा द्वारा काय कलेवर में, जीवन-शरीर में सविता के आह्वान-अवतरण की भूमिका बनती है।

स्थूल शरीर का केंद्र नाभि को माना गया है। गर्भस्थ बालक के शरीर में माता के अनुदान नाभि मार्ग से ही पहुँचते हैं, अस्तु वही प्रथम मुख है। प्रत्यक्ष शरीर में तो मस्तिष्क एवं हृदय को प्रधान अंग माना गया है, किंतु जीवन शरीर का मध्य केंद्र नाभि है। आयुर्वेदीय नाड़ी परीक्षा में नाभि केंद्र को शरीर की धुरी माना गया है। योग नाड़ियों का उद्‌गम भी वहीं से बताया गया है। नाभि को धुरी इसलिए कहा गया है कि वह स्थान शरीर के ठीक बीचोंबीच है। धुरी मध्य में ही रहती है।

शरीर के जीवित रहने का चिह्न उसमें पाई जाने वाली ऊष्मा है। मृतक का शरीर ठंडा हो जाता है, पेट की जठराग्नि से ही भोजन पचता है। रक्त की गर्मी ही उसके संचार का कारण है। यह संव्याप्त अग्नि ही रोगों से लड़ती है। यही उत्साह एवं स्फूर्ति प्रदान करती है। ओजस् इसी को कहते हैं। पृथ्वी पर पाये जाने वाले अग्नितत्त्व का केंद्र सूर्य है। सूर्य यदि ठंडा होने लगे तो यह पृथ्वी भी ठंडी हो जाएगी। काय-कलेवर में चेहरे पर आकर्षण, आँखों में चमक एवं गतिविधियों में सक्रियता दिखाई पड़ती है, उसका मूल आधार यह जीवन अग्नि ही है, इसमें कमी पड़ जाने पर काया बलिष्ठ होते हुए भी निर्जीव जैसी बन जाती है। मुर्दनी और उदासी छाई रहती है। आलसी और प्रमादी लोगों में सब कुछ ठीक-ठाक होते हुए भी जब ऊर्जा की कमी रहती है तो वही पिछड़ेपन का-कायिक दुर्बलता का प्रधान कारण बन जाता है।

अन्नमय कोश की ध्यान-धारणा में सविता देव का प्रवेश नाभि मार्ग से होकर समस्त स्थूल शरीर और जीवन शरीर में होता है। श्रद्धा ही शक्ति बन जाती है। संकल्पों का चुंबकत्व असाधारण है। ध्यान में यह श्रद्धा और संकल्प का सम्मिश्रण ही वह तत्त्व है जिसके बल पर भौतिक अनुकूलताओं से लेकर सूक्ष्म जगत की दिव्य शक्तियों तक को अपने निकट खींच बुलाया जाता है। ध्यान का स्तर यदि कल्पनाएँ मात्र हो तो उसका परिणाम भी शिथिल रहेगा, पर यदि उस भाव चित्र को सुनिश्चित तथ्य की तरह श्रद्धा-विश्वास के रूप में अपनाया जाय तो उसकी प्रतिक्रिया भी ऐसी ही होगी मानो साक्षात् सविता नाभिचक्र के अग्निचक्र के, माध्यम से समस्त शरीर में प्रवेश कर रहे हों।

यह ध्यान जितना ही श्रद्धासिक्त होता है, उतनी ही तात्कालिक एवं दूरगामी प्रतिक्रिया सामने आती है। ध्यान के समय भी शरीर में गर्मी बढ़ती प्रतीत होती है, श्वास की गति और रक्त-संचार में तीव्रता का अनुभव होता है, तापमान बढ़ गया सा लगता है। पीछे भी

प्रतीत होता है कि पहले की अपेक्षा सक्रियता बढ़ गई है, उदासी दूर हुई है और उत्साह एवं स्फूर्ति में उभार आया है।

ध्यान के समय समस्त काया में सविता शक्ति का संचार, जीवन शरीर में ओजस् का उभार, व्यक्तित्त्व में नव-जीवन का संचार करता है। अधिक काम करने के लिए उमंग उठती है और इच्छा होती है कि कामों का स्तर ऐसा हो जो प्रतिष्ठा एवं संतोष की अभिवृद्धि कर सके। काम भी गौरवान्वित हो और कर्ता को भी यश मिले, तभी क्रिया की सार्थकता है। इस प्रकार की स्थिति बनाने के लिए ऐसी व्यवस्था परक योजना भी बनती और सफल होती है। साथ ही यदि सूक्ष्म प्रेरणाएँ भी उसी स्तर की उठने लगें और अंतःक्षेत्र में भी उसी प्रकार का ताना-बाना बुना जाने लगे, तो दोहरा लाभ होता है। बाहर के प्रयत्न तो कई बार भार-भूत भी लगते हैं और आंतरिक उत्साह की कमी से वे शिथिल, असफल भी होते हैं किंतु यदि अंतःकरण उभरने लगे तो अनायास ही गतिविधियाँ प्रगति की दिशा में अदम्य उत्साह के साथ दौड़ने लगती हैं। विकास-क्रम का प्रथम चरण यह आंतरिक उत्साह ही है।

अन्नमय कोश में सविता देव के अग्नि रूप में प्रविष्ट होने, समस्त शरीर का अग्नि पिंड, अग्नि पुंज, अग्निमय, सवितामय बन जाने की ध्यान-धारणा एक नई आत्मानुभूति प्रस्तुत करती है। यह मात्र आत्म-संकेत के आधार पर मिलने वाली अनुभूति या स्फुरणा नहीं है। इस धारणा के पीछे चिंतन चुंबकत्व द्वारा विश्व-व्यापी सविता प्रवाह में से महत्त्वपूर्ण अंश अपने में धारण करते चलने का ऐसा लाभ भी है, जिसे साधक क्रमशः आत्मसत्ता में अवतरित होते हुए प्रत्यक्ष देखता है।

(ग) सविता शक्ति नुकीले किरण पुंज के रूप में, नाभि में प्रविष्ट होती है। उसके आघात से नाभिचक्र में तीव्र हलचल, तीव्र प्रकाश पैदा होता है। उसका संचार सारे शरीर में होता हुआ अनुभव करें।

(घ, ङ, च) सविता शक्ति शरीर को चलाने वाली जैवीय अग्नि-ऊर्जा के रूप में बदल रही है। प्रकाशित धाराओं के रूप में उसका संचार सारे शरीर में हो रहा है। शरीर अग्नि के गोले के रूप में अनुभव होता है। शरीर की हर इकाई दिव्य संस्कार से ओत-प्रोत होती है। अंग-प्रत्यंग में ओज, उत्साह, कर्मठता का उभार अनुभव करें।



२. (ख) प्राणमय कोश

प्राणमय कोश सूक्ष्म शरीर का वह भाग है जिसे विद्युत भांडागार कह सकते हैं। शरीर भी एक मशीन है। मशीनों के चलने में कोयला, भाप, तेल, बिजली आदि के आधार पर उत्पन्न ऊर्जा काम करती है। मनुष्य या पशु के शरीर से ही आरंभिक दिनों में यह शक्ति प्राप्त होती थी, इसलिए उसे अश्व शक्ति के नाम से नापा-तोला जाता था। मनुष्य शरीर के कलपुर्जे इतने अधिक हैं कि यदि उनकी छोटी इकाइयों को भी गिना जाय तो वे अरबों की संख्या में जा पहुँचेंगी। इन सभी का संयुक्त अस्तित्व तो अवयवों के रूप में है ही, वे स्वतंत्र घटक के रूप में भी अपने अद्‌भुत क्रिया-कलापों को चलाते हैं। इनकी गतिशीलता एक विशेष प्रकार की बिजली के आधार पर चलती है। विशेष प्रकार की इसलिए कि मशीनों को चलाने वाली स्थूल बिजली से बहुत अंशों में मिलती-जुलती होते हुए भी उसकी मौलिक विशेषताएँ और भिन्नताएँ भी हैं। इसलिए उसे प्राणि विद्युत कहा जाता है। अध्यात्म विज्ञान में इसे 'प्राण' कहा गया है। इसी सामर्थ्य के सहारे काया के समस्त अवयव और घटक अपना-अपना काम अनवरत रूप से चलाते रहने में समर्थ होते हैं।

कारखाने में काम करने वाली मशीनों का अपना विज्ञान है। उन्हें चलाने वाली बिजली भी मोटी दृष्टि से देखने में मशीनों के साथ अपना कार्य संयुक्त रूप से करती दीखती है, फिर भी उसका स्वतंत्र अस्तित्व और स्वतंत्र विज्ञान है। मशीनें और बिजली मिल-जुलकर काम जरूर करती हैं, फिर भी दोनों की स्वतंत्र सत्ता को भली प्रकार देखा, समझा जा सकता है। प्राण विद्युत के सहारे शरीर

की समस्त इकाइयाँ काम करती हैं; इसलिए उसे काय-सत्ता में घुला-मिला समझा जा सकता है। इतने पर भी यह प्राण विद्युत अपने आप में एक विशिष्ट क्षमता ही कही जाएगी। यह समस्त शरीर के अंतराल में छाई रहती है और उसका प्रभाव, प्रकाश बाहर भी एक सीमा तक काम करता रहता है। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति उसके भीतर भी काम करती है और बहुत दूर तक उससे बाहर भी फैली रहती है। ग्रह-नक्षत्र परस्पर इसी आकर्षण शक्ति से बँधे रहते हैं और अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान उसी के आधार पर चलते रहते हैं। इस प्रकार प्राण विद्युत का कार्य क्षेत्र शरीर के भीतर ही नहीं बाहर भी है। शरीर के अंतर और बाह्य क्षेत्र में फैली हुई इस जैव विद्युत की परिधि को 'प्राणमय कोश' कहा जाता है।

मस्तिष्कीय संरचना का जिन्हें ज्ञान है, वे जानते हैं कि समस्त शरीर में मकड़ी के जाले की तरह फैले हुए ज्ञान तंतुओं का संबंध मस्तिष्क से जुड़ा रहता है और वे टेलीफोन के तारों की तरह संचार का कार्य करते हैं। शरीर में कहीं कुछ हलचल हो, उसकी सूचना मस्तिष्क तक पहुँचती है और स्थिति के अनुरूप जो कुछ करना है उसका निर्णय विभिन्न अवयवों को भेजा जाता है। जैसे किसी स्थान पर चींटी काटे तो उसकी सूचना मस्तिष्क को पहुँचेगी और वहाँ से हाथ को उठने, उँगलियों को मुड़ने, चींटी हटाने और काटे स्थान को खुजला कर विष को हटा देने का आदेश मिलेगा। यह सब कुछ थोड़ी सी सेकंडों में ही हो जाता है। इस कार्य को संपन्न करने में ज्ञान तंतुओं से लेकर मस्तिष्क तंत्र तक को जो शक्ति लगानी पड़ती है, यह संव्याप्त प्राण विद्युत की होती है। सोचने, विचारने के लिए काम आने वाले मस्तिष्कीय भाग को सचेतन कहा जाता है। शरीर के भीतर अनवरत रूप से चलने वाले क्रिया-कलापों के पीछे अचेतन मस्तिष्क काम करता है। रक्त-संचार, श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष, पाचन, विसर्जन आदि के अनेकों क्रिया-कलापों को संपन्न करना अचेतन का काम है। सचेतन और अचेतन

दोनों ही मस्तिष्कों को अपना काम करते रहने की सामर्थ्य प्राण विद्युत से ही मिलती है। न केवल मस्तिष्क वरन् शरीर के सभी अवयव और घटक इसी बिजली के सहारे गतिशील रहते हैं। मस्तिष्क में (ई०ई०जी०) के और हृदय में (ई०सी०जी०) के सहारे इस विद्युत प्रवाह की नाप-तौल की जाती है। सामान्यतः इसे ताप के रूप में अनुभव किया जाता है। गतिशीलता इसी की प्रतिक्रिया है।

प्राण विद्युत का अनुपात एवं संतुलन ठीक बना रहने से ही शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है। उसमें गड़बड़ी होने से अवयवों की गतिशीलता लड़खड़ाती है और कई प्रकार के रोग उठ खड़े होते हैं। औषधियाँ रासायनिक गड़बड़ियों को ठीक कर पाती है क्योंकि वे रासायनिक पदार्थों की बनी होती हैं और अपने क्षेत्र में ही काम करती हैं। प्राण विद्युत की गड़बड़ी से उत्पन्न रोगों पर औषधियों का प्रभाव अत्यंत स्वल्प पड़ता है और उस तरह की बीमारियों को कष्टसाध्य या असाध्य कहकर औषधि विज्ञानी हार मान लेते हैं। यदि इन रोगों का प्राण उपचार संभव रहा होता तो उनकी निवृत्ति आसानी से संभव रही होती। मेस्मेरिज्म वर्ग के कितने ही ऐसे उपचार अब प्रकाश में आने लगे हैं जो प्राण विद्युत को प्रभावित कर उस क्षेत्र में उत्पन्न व्याधियों का निराकरण करते हैं। मस्तिष्क एवं नाड़ी संस्थान की व्याधियाँ तो प्रायः इस विद्युत क्षेत्र के असंतुलन से ही उत्पन्न होती हैं।

शारीरिक स्फूर्ति और मानसिक उत्साह की विशेषता प्राण विद्युत के स्तर और अनुपात पर निर्भर रहती है। बढ़ने पर मनुष्य उत्तेजित और चंचल दिखाई पड़ता है। घटने से आत्महीनता, संकोच, अन्यमनस्कता,उदासीनता, भीरुता, आशंका आदि बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। चेहरे पर चमक, आँखों में तेज, मन में उमंग, स्वभाव में साहस, प्रवृत्तियों में पराक्रम इसी विद्युत प्रवाह का उपयुक्त मात्रा में प्रवाहित होना सिद्ध करता है। एक शब्द में इसे प्रतिभा कहा जा सकता है। अध्यात्म विज्ञान में इस तत्त्व को तेजस् कहा गया है।

तेजस् और कुछ नहीं प्राण शक्ति की उपयुक्त मात्रा का प्रमाण भर है। शरीर के इर्द-गिर्द फैला हुआ विद्युत प्रकाश तेजोवलय कहलाता है। इसका बाहुल्य चेहरे के इर्द-गिर्द रहता है। देवताओं और महापुरुषों के चेहरे के इर्द-गिर्द सूर्य जैसा आभा-मंडल चित्रित किया जाता है। यह इस तेजोवलय का ही प्रदर्शन है।

यह तो हुआ काय-कलेवर के भीतर काम करने वाले विद्युत प्रवाह का संक्षिप्त एवं आंशिक परिचय। अब काया से बाहर के क्षेत्र में इस शक्ति के क्रिया-कलापों की बात आती है। संपर्क और संगति की निकटता और घनिष्टता के भले-बुरे प्रतिफलों की बात सभी जानते हैं। इसका आधार संपर्क क्षेत्र के प्राणियों के बीच चलने वाला यह विद्युतीय आदान-प्रदान ही होता है। आग अपने समीपवर्ती क्षेत्र पर प्रभाव डालती और उसे गरम करती है। बर्फ की ठंडक भी अपने प्रभाव क्षेत्र को ठंडा करती है। मनुष्य की प्राण विद्युत व्यक्ति की प्रखरता के अनुरूप एक छोटे या बड़े क्षेत्र में फैली रहती है और उस वातावरण के संपर्क में आने वाले लोग किसी न किसी प्रकार प्रभावित होते हैं। प्रतिभाशाली लोग प्रभावशाली भी होते हैं, वे दूसरों पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ते हैं, ऋषियों के आश्रमों में सिंह, गाय साथ पानी पीते और बिना वैर-भाव के साथ-साथ रहते थे। मनुष्यों पर, मनुष्येतर अन्य प्राणियों पर, यहाँ तक कि स्थानों एवं पदार्थों पर भी प्रतिभाशाली व्यक्तियों का प्रभाव पड़ता है। तीर्थों की गरिमा का आधार यही है। वहाँ किसी समय कोई प्रखर व्यक्तित्त्व रहे हैं और उनका प्रभाव अभी तक दृष्टिगोचर होता है। समय बीतने के साथ-साथ यह झीना भी होता जाता है, पर जीवित व्यक्तित्वों का प्रभाव तो उनके समीपवर्ती क्षेत्र में बना ही रहता है। वेश्याओं का कामुक आकर्षण, आततायियों का आतंक, सज्जनों का सत्प्रभाव बिना कुछ कहे-सुने ही मात्र समीपता के आधार पर काम करते देखा जाता है। इसे प्राण विद्युत का ही चमत्कार कहा जा सकता है।

अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं में कितनी ही ऐसी हैं जो प्राचीन काल में प्राण विद्युत के बुरे प्रभाव से बचने एवं अच्छे प्रभाव से लाभान्वित होने की दृष्टि से ही बनाई गई थीं। तब वे उपयोगी भी थीं, पर आज तो वे मात्र रूढ़ियाँ रह गईं और अंध परंपरा के रूप में विकृत हो जाने पर निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी बन गईं हैं। छूत-अछूत का भेद किसी समय दुष्टता एवं पतनोन्मुख प्रभाव क्षेत्र से बचने के लिए था। भोजन पकाने और परोसने के संबंध में किन व्यक्तियों का सहयोग लिया जाय, किसका न लिया जाय, इसका निर्णय भी इस तथ्य को ध्यान में रखकर किया जाता था। विवाह में वर-वधू के व्यक्तित्वों की समता का महत्त्व भी इसी आधार पर था। शैयाशायी होने पर विद्युत प्रवाह परस्पर अति तीव्रता से दौड़ता है और घटिया स्तर के संपर्क में बढ़िया स्तर वाला अपनी जमा पूँजी गँवाता है। सत्संग, श्रेष्ठ व्यक्तियों के चरण-स्पर्श आदि में यह विद्युत प्रवाह ही प्रधान रूप से काम करता है।

प्राणवान, तपस्वी एवं तेजस्वी व्यक्ति अपने जमाने का वातावरण ही बदल देते हैं। ग्रीष्म ऋतु में हर वस्तु का तापमान बढ़ जाता है, वर्षा के दिनों हवा में नमी भरी रहती है। सर्दियों में ठंडक का दौर कहीं भी देखा जा सकता है। महामानव भी अपने समय में ऋतु प्रभाव की तरह काम करते हैं और लोकमानस को, वातावरण को-प्रभावित करते हैं। सज्जनों की तरह दुर्जनों का भी दुष्ट प्राण होता है और वह भी समीपवर्ती प्राणियों एवं पदार्थों को प्रभावित करता है। दुर्जनों और सज्जनों के छोड़े हुए प्राण बहुधा आकाश में टकराते रहते हैं। उस टकराव को ही देवासुर संग्राम कहा जाता है।

शरीर के पोषण-अभिवर्धन के लिए, उसकी आधि-व्यधियों का निवारण करने के लिए विविध उपाय-उपचार किए जाते हैं। प्राण शरीर का कार्य क्षेत्र प्रत्यक्ष शरीर से कहीं बड़ा है। उसका महत्त्व एवं प्रभाव भी अधिक है। दुर्बल और रुग्ण काया में भी समर्थ प्राण हो तो वह आद्य शंकराचार्य की तरह रुग्ण एवं अल्पजीवी

होते हुए भी आश्चर्यचकित कर देने वाले कार्य कर सकता है, किंतु यदि प्राण शक्ति दुर्बल रही हो तो फिर स्थूलकाय प्राणी भी दीन-दरिद्रों की तरह अनाथ-असहायों की तरह दयनीय स्थिति में पड़ा हुआ किसी प्रकार जिंदगी की लाश ढो रहा होगा।

प्राण ही जीवन है। उसके निकल जाने पर मृतक काया तत्काल सड़ने-गलने लग जाती है। विश्व-प्राण के रूप में वह समस्त ब्रह्मांड में भरा पड़ा है। इसमें से अपनी पात्रता के अनुरूप जितना अभीष्ट हो, उतना अपने लिए उपलब्ध कर सकते हैं। मरने के बाद प्रेत शरीर में प्रायः प्राणमय कोश ही अपना अस्तित्व बनाए और परिचय देता रहता है। प्राणमय कोश को महाप्राण का भाण्डागार बना देने की, प्राण विद्युत के चमत्कारी सत्परिणाम प्राप्त करने की विद्या को प्राण विद्या कहते हैं। कठोनिपषद् में यम ने जिज्ञासु नचिकेता को प्राणग्नि विद्या का प्रशिक्षण दिया और उसे धन्य बनाया था। यही प्राणमय कोश की साधना योगशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राणयोग के विभिन्न उपचारों से इसी की सिद्धि का प्रयास किया जाता है। ब्रह्मवर्चस् साधना में प्राणमय कोश की ध्यान-धारणा से इसी दिशा में आशाजनक प्रगति कर सकने का पथ-प्रशस्त होता है।

ध्यान करें-शरीर में एक दिव्य विद्युत संचार व्यवस्था है, प्राण विद्युत का हर छोटी-से-छोटी इकाई में प्रवाह होता रहता है। शरीर भर में अगणित चमकीले प्रवाह अनुभव करें। इन प्रवाहों का शरीरस्थ केंद्र मूलाधार चक्र। वहाँ दिव्य प्राण की स्वप्रकाशित भँवर। भँवर की गति के साथ उससे छूटती, फैलती प्राण धाराएँ सारे संस्थान में फैलती हुई परिलक्षित होती हैं।



२. सविता अवतरण का ध्यान

बिजली यों मोटर के सभी तारों में दौड़ती है, पर उसका नियंत्रण स्टार्टर या स्विच से होता है। ताला एक पूर्ण यंत्र है, पर उसके खुलने, बंद होने की क्रिया ताली के छिद्र से होती है। आहार का परिपाक एवं उपयोग पूरे शरीर में होता है, पर उसे ग्रहण मुख मार्ग से ही किया जाता है। इसी प्रकार प्राणमय कोश यों एक पूरा शरीर है, किंतु उसका नियंत्रण केंद्र मूलाधार चक्र है।

मूलाधार चक्र मल-मूत्र छिद्रों के मध्य भाग में माना गया है। यह त्वचा से सटा-गुथा नहीं, वरन् गुदा गह्वर में प्रायः तीन अँगुल की गहराई पर होता है। इसे मेरुदंड के अंतिम अस्थि भाग के समीप कहा जा सकता है। प्रत्यक्षतः तो यहाँ कुछ नाड़ी गुच्छक, प्लेक्सस, हारमोन ग्रंथियों तथा योनिकंद का अस्तित्व है, पर इनमें से एक को भी मूलाधार चक्र नहीं कहा जा सकता। चक्र सूक्ष्म हैं। वे परमाणु घटकों की तरह आँखों से नहीं देखे जा सकते, प्रतिक्रियाओं के आधार पर उनके अस्तित्व, स्वरूप एवं क्रिया-कलाप का निर्धारण किया जा सकता है। जिस क्षेत्र में यह चक्र होते हैं वहाँ के सूक्ष्म अवयवों की क्रियाएँ मिलती-जुलती हो जाती हैं जैसे कि चंदन की सुगंध से समीपवर्ती वातावरण भी वैसा ही सुगंधमय हो जाता है। नाड़ी गुच्छक 'प्लेक्सस' शरीर में मेरुदंड के इर्द-गिर्द पाए जाते हैं, कइयों ने उन्हें ही चक्र संज्ञा दी है, पर वस्तुतः वैसे हैं नहीं। वे सूक्ष्म शरीर के महत्त्वपूर्ण अवयव एवं शक्ति केंद्र हैं। मूलाधार चक्र उन्हीं में से एक है।

प्राणमय शरीर का केंद्र मूलाधार चक्र है। प्राणमय कोश का प्रवेश द्वार भी उसे कहते हैं। प्रवेश द्वार से तात्पर्य है व्यष्टि और समष्टि का

संपर्क बिंदु। जिस प्रकार गर्भस्थ बालक नाभि नाल के माध्यम से माता के साथ जुड़ा रहता है, उसी प्रकार इन प्रवेश द्वारों को व्यष्टि और समष्टि के बीच का समन्वय संस्थान इन चक्रों को कहा जा सकता है। जिस प्रकार परमाणु अपनी धुरी पर घूमता है, उसी प्रकार यह चक्र भी नदी के भँवर की तरह निरंतर गतिशील रहते हैं। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में गरम हवा के प्रवाह की उलझन चक्रवात, साइक्लोन उत्पन्न करती है, उसी प्रकार इन चक्रों की स्थिति भी शक्ति भँवर एवं समर्थ चक्रवात जैसी होती है। इसी द्रुतगामी परिभ्रमण के कारण उनके मध्य वह सशक्तता उत्पन्न होती है, जिसके सहारे अनेक प्रकार के दिव्य एवं चमत्कारी प्रयोजन पूरे होते हैं।

प्राणमय कोश की ध्यान-धारणा में भावना करनी पड़ती है कि सविता शक्ति मूलाधार चक्र के माध्यम से समस्त प्राणमय कोश में प्रवेश करती और संव्याप्त होती है, प्राण चूँकि एक प्रकार की विद्युत शक्ति है, इसलिए सविता देव का स्वरूप भी प्राणमय कोश में विद्युत रूप में ही रहता है। भावना करते हैं कि सविता की विद्युत शक्ति काया में संव्याप्त बिजली के साथ मिलकर उसकी क्षमता को असंख्य गुना बढ़ा देती है। सारी प्राण शक्ति विद्युत से भरी जाती है और उसकी स्थिति विद्युत पुंज एवं विद्युत पिंड जैसी बन जाती है। अध्यात्म शास्त्रों में प्राण विद्युत को तेजस् कहा गया है। साधक ध्यान करता है कि मेरे कण-कण में, नस-नस में, रोम-रोम में सविता से अवतरित विशिष्ट विद्युत शक्ति का प्रवाह गतिशील हो रहा है और आत्मसत्ता प्राण विद्युत से ओत-प्रोत एवं आलोकित हो रही है। यह दिव्य विद्युत प्रतिभा बनकर व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाती है। अपने पराक्रम और साहस का जागरण तथा दूसरों को उच्चस्तरीय सहयोग, प्रोत्साहन दे सकना इसी बढ़ी हुई प्राण विद्युत के सहारे सहज संभव हो जाता है।

प्राणमय कोश ही ध्यान-धारणा के समय अपने प्राण में सविता प्राण की प्रचुर मात्रा भरती और बढ़ती जाने की आस्था जमाई जाती है।

यह कल्पना की उड़ान नहीं, वरन् एक सुनिश्चित यथार्थता है। यदि इस भावना के साथ श्रद्धा का समुचित समावेश हो तो साधकसहज ही अपने में प्राण तत्त्व की अभिवृद्धि का अनुभव करता जाएगा।

धारणा का अंतिम चरण 'जागृत' आत्म संकेत के साथ पूरा किया जाता है। निर्देश है-"प्राणमय कोश जागृत, मूलाधार चक्र जागृत, प्राण विद्युत जागृत, प्रतिभा जागृत, पराक्रम जागृत, साहस जागृत।" इन्हें शब्दों के रूप में ही दुहरा नहीं देना चाहिए, वरन समग्र निष्ठा के साथ यह अनुभव करना चाहिए कि सचमुच ही वे सभी जागृत हो चलें जिनके संबंध में ये निर्देशन किए गए हैं।

ध्यान करें-शरीर विद्युत संचार का केंद्र मूलाधार चक्र, सविता देवता का प्रकाश नुकीले किरण पुंज के रूप में प्रविष्ट होता है। प्रतिक्रिया दिव्य प्राण विद्युत की प्रचुर उत्पत्ति हो रही है, सारे शरीर में उसका संचार होता है, प्राण तेजस् कण-कण को संस्कारित कर रहा है। अंतःकरण में तेजस्विता, प्रतिभा, साहस के उभार एवं संचार की अनुभूति होती है। आदर्शों के लिए कुछ भी कर-गुजरने के अनुपम साहस का स्पष्ट बोध होता है।



२. (ग) मनोमय कोश

मनोमय कोश में अकेला मन नहीं, वरन् मन, बुद्धि और चित्त तीन का संगम है। अंतःकरण में इनके अतिरिक्त एक चौथा घटक 'अहंकार' भी आता है। यह विज्ञानमय कोश का भाग गिना गया है। यहाँ अहंकार का अर्थ घमंड नहीं, वरन् स्वानुभूति है, जिसे अँग्रेजी में 'ईगो' कहते हैं।

मन कल्पना करता है और बुद्धि विवेचना करती और निर्णय पर पहुँचती है। चित्त में अभ्यास के आधार पर वे आदतें बनती हैं, जिन्हें संस्कार भी कहा जाता है। इन तीनों का मिला हुआ स्वरूप मनोमय कोश है। सामान्यतया मस्तिष्कीय संस्थान की चेतन-अचेतन प्रवृत्तियों के समन्वय को मनोमय कोश कहा जा सकता है। चेतना का यह सारा परिकर शिर की खोपड़ी के सुरक्षित दुर्ग में स्रष्टा ने बहुत ही समझ-बूझ के साथ सँभाल कर रखा है।

इसका प्रवेश द्वार आज्ञाचक्र माना गया है। इसे दोनों भृकुटियों के मध्य भाग में माना गया है। इसे तृतीय नेत्र भी कहा गया है। शंकर एवं दुर्गा की प्रतिमाओं में तीसरे नेत्र का चित्रण इसी स्थान पर किया जाता है। तृतीय नेत्र से तात्पर्य दूरदर्शिता से है। प्रायः लोग अदूरदर्शी होते हैं। तनिक से प्रत्यक्ष लाभ के लिए परोक्ष की भारी हानि करते हैं। तात्कालिक तनिक से लाभ के लिए अवांछनीय कार्य करते और मर्यादाएँ तोड़ते हैं, फलस्वरूप उसके चिरकाल तक कष्ट देने वाले दुष्परिणाम भुगतते हैं। दूरदर्शिता मनुष्य को किसान, विद्यार्थी, माली, पहलवान, व्यापारी आदि के समान बुद्धिमान बनाती है जो

आरंभ में तो कष्ट सहते हैं, पर पीछे महत्त्वपूर्ण लाभ उठाते हैं। यह दूरदर्शिता यदि किसी को उपलब्ध हो सके तो वह जीवन संपदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग करने की योजना बनाएगा और इस सुरदुर्लभ अवसर का समुचित लाभ उठाकर धन्य बनेगा।

शंकर जी के चित्रों में तीसरा नेत्र दिखाया जाता है। कथा है कि उन्हें काम-विकार ने पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोला और उस विकार को जलाकर भस्म कर दिया। इस अलंकार का भावार्थ इतना ही है कि अदूरदर्शिता के कारण जो बात बड़ी आकर्षक-लुभावनी लगती है, वही विवेकशीलता की कसौटी पर कसने से विष-तुल्य हानिकारक लग सकती है। जब किसी बात की, वस्तु की हानि स्पष्ट हो जाय तो उसके प्रति घृणा का उभरना और परित्याग करना स्वाभाविक है। जिस प्रकार शिवजी ने कामदेव को तृतीय नेत्र के सहारे जला कर अपने ऊपर बरसने वाली विपत्ति से छुटकारा पा लिया था, उसी प्रकार जिस किसी को भी यह दूरदर्शिता प्राप्त होगी, वह अवांछनीय आकर्षणों से आत्मरक्षा करके उज्ज्वल भविष्य की संरचना कर सकेगा। आमतौर से यह तृतीय नेत्र बंद एवं प्रसुप्त रहता है। उसका जागरण एवं उन्मीलन करना मनोमय कोश की ध्यान-धारणा का उद्देश्य है। यह देखने में छोटी बात लगती है, पर वस्तुतः है इतनी बड़ी कि उसके सत्परिणामों को ध्यान में रखने से इसे दैवी सिद्धि से किसी भी प्रकार कम नहीं माना जा सकता।

आज्ञाचक्र की संगति इसे शरीर शास्त्री आप्टिक कियाज्मा, पिट्यूटरी एवं पीनियल ग्रंथियों के साथ मिलाते हैं। यह ग्रंथियाँ भ्रूमध्य भाग की सीध में थोड़ी गहराई में हैं। इनसे स्रवित होने वाले हारमोन समस्त शरीर के अति महत्त्वपूर्ण मर्मस्थलों को प्रभावित करते हैं। अन्यान्य ग्रंथियों के स्रावों पर भी नियंत्रण करते हैं। इनकी विकसित एवं अविकसित स्थिति का पूरे व्यक्तित्व पर भला-बुरा प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया इन रहस्यमयी ग्रंथियों

और उनके उत्पादनों को अति महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी मानवी नियंत्रण के बाहर समझा जाता है। ऐसा कोई उपाय अभी हाथ नहीं लगा है कि इन ग्रंथियों की स्थिति को संभाला, सुधारा जा सके। यदि वैसा उपाय हाथ लगा होता तो सचमुच ही मनुष्य को अपने हाथों अपना व्यक्तित्व, भाग्य और भविष्य बनाने की कुंजी हाथ लग जाती।

आत्मसत्ता के विज्ञानवेत्ता, सूक्ष्मदर्शी योगीजनों ने यह जाना है कि मस्तिष्क ही नहीं शरीर के किसी भी अवयव पर, मन:संस्थान के किसी भी केंद्र पर प्रभाव डाला जा सकता है और उसमें अभीष्ट परिवर्तन हो सकता है। यह कार्य केंद्रित संकल्प-शक्ति के प्रयोग एवं प्रहार की क्षमता उपलब्ध होने से सरल एवं संभव हो सकता है। इस प्रकार के नियंत्रण एवं प्रयोग की क्षमता ध्यान योग के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है। बिखरी विचार शक्ति फैली हुई भाप, धूप एवं बारूद की तरह है। बिखराव की स्थिति में इन तीनों ही वस्तुओं का प्रभाव नगण्य होता है, किंतु जब इन्हें केंद्रित करके एक लक्ष्य विशेष पर केंद्रित किया जाता है तो उनकी सामर्थ्य असंख्य गुनी प्रचंड होती देखी गई है। भाप से रेल का इंजन चलता है, प्रेसर कुकर जैसे छोटे-छोटे प्रयोग तो कितने ही होते रहते हैं। कुछ इंच क्षेत्र में फैली हुई धूप को आतिशी शीशों पर केंद्रित करने से आग जलने लगती है। तनिक-सी बारूद कारतूस में केंद्रित होकर और बंदूक की नली द्वारा दिशा विशेष में फेंकी जाने पर वज्रपात जैसा प्रहार करती एवं निशाने को धराशायी बनाती देखी जाती है। ध्यान योग द्वारा विचार-शक्ति को केंद्रित करके जब किसी लक्ष्य विशेष पर प्रयुक्त किया जाता है तो उसके परिणाम भी वैसे ही होते हैं जैसे कि ध्यान योग के माहात्म्य में अध्यात्म शास्त्रवेत्ताओं ने विस्तारपूर्वक बताए हैं।

ध्यानयोग की सहायता से केंद्रीकृत संकल्प शक्ति को अपने शरीर के किसी भी अवयव पर प्रयुक्त करके उसकी दुर्बलता एवं रुग्णता का निराकरण किया जा सकता है, उसे अधिक बलिष्ठ एवं

सक्षम बनाया जा सकता है। मनोमय कोश के क्षेत्र में ध्यान-धारणा का प्रयोग करके समूचे मस्तिष्क क्षेत्र की बुद्धिमत्ता एवं प्रखरता विकसित की जा सकती है। उसके किसी केंद्र विशेष में सन्निहित प्रसुप्त क्षमताओं को उभारा और बढ़ी हुई विकृतियों को शांत किया जा सकता है। जिस प्रकार इंजेक्शन की पतली एवं तीक्ष्ण सुई शरीर के किसी भी भाग में चुभाई जा सकती है, उसी प्रकार ध्यानयोग द्वारा केंद्रीकृत संकल्प शक्ति का इस प्रयोजन के लिए सफलतापूर्वक उपयोग हो सकता है, जिसे आमतौर से मानवी नियंत्रण से बाहर माना जाता है। इस सफलता को दैवी एवं अति मानवी कहा जाता है, क्योंकि इसके सहारे वे कार्य हो सकते हैं, जिन्हें साधारणतया दैवी अनुग्रह से ही संभव माना जाता है।

मनोमय कोश पूरी विचारसत्ता का क्षेत्र है। इसमें चेतन, अचेतन एवं उच्च चेतन की तीनों ही परतों का समावेश है। विचार शक्ति का केंद्र यों तो मस्तिष्क को ही माना गया है, पर वस्तुतः वह शरीर के प्रत्येक क्षेत्र में फैली हुई है। मस्तिष्क अपनी प्रेरणा से उसे ही उत्तेजित करता और विभिन्न प्रकार के काम लेता है। मस्तिष्कीय प्रेरणा और अवयवों में फैली चेतना के बीच जब उपयुक्त तालमेल होता है तो उस पारस्परिक सहयोग से मस्तिष्क की इच्छा-आकांक्षा को अवयवों का अंतराल सहज ही पूरा करने लगता है, और मनोवांच्छाओं की पूर्ति का बहुत बड़ा आधार बन जाता है, किंतु यदि असमंजस्य-असहयोग रहा तो फिर इच्छा उठते और आकांक्षा रहते हुए भी अवयवों का सहयोग नहीं मिलता। अपना ही शरीर अपने काबू में न होने की कठिनाई हर किसी के सामने हैं। दूसरे कहना न मानें, यह बात समझ में आती है, पर अपना शरीर तो मस्तिष्क का वशीवर्ती है फिर उस पर अपना शासन क्यों नहीं चलना चाहिए? इस विडंम्बना का कारण पारस्परिक तालमेल का अभाव है। नियंत्रणकर्ता की दुर्बलता का अनुचित लाभ उठा कर कर्मचारी भी तो अनुशासनहीनता फैलाते हैं। ठीक यही स्थिति अपने शरीर और

मन की होती है। इस स्वेच्छाचारी उच्छृंखलता को समाप्त करके सुव्यवस्थित अनुशासन स्थापित करने का कार्य मनोमय कोश की साधना द्वारा संपन्न होता है। आत्म-विजय को विश्व-विजय के समतुल्य माना गया है। मनोनिग्रह को योग-शक्ति की आत्मा कहा जाता है। इंद्रिय निग्रह कर सकने वाले को चमत्कारी योगी-सिद्ध कहते हैं। भुजाओं के बल से अनेक प्रकार के पराक्रम सधते और पुरुषार्थ बनते हैं। धन-बल से कितनी सुविधाएँ खरीदी जा सकती हैं, यह सभी जानते हैं। मनोबल के चमत्कार इन सबसे ऊँचे हैं। सर्वतोमुखी मनोबल मनोमय कोश की साधना से संपन्न होता है। मस्तिष्क के किसी केंद्र विशेष को ही भौतिक प्रयोजनों के लिए प्रशिक्षित करना ही अभीष्ट हो तो बात दूसरी है। यह कार्य स्कूली प्रशिक्षण से या उस विषय के जानकारों से सीखे जा सकते हैं, किंतु मन:सत्ता को उच्चस्तरीय प्रगति तक पहुँचाना मनोमय कोश की साधना जैसे सूक्ष्म प्रयोगों से ही संभव हो सकता है।

अन्नमय कोश का शरीर बल, प्राणमय कोश का प्रतिभा बल जीवन को सुखी, समुन्नत बनाने में कितना सहायक सिद्ध होता है, इसे सभी जानते हैं। मनोमय कोश को परिष्कृत करके प्राप्त किए जाने वाले उच्चस्तरीय मनोबल का प्रभाव और भी अधिक बढ़ा-चढ़ा है। साधारणतया मनोबल साहस के अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर उसका वास्तविक स्वरूप समग्र काय-कलेवर में संव्याप्त मन:सत्ता को उत्कृष्ट एवं प्रखर बना देने के रूप में समझा जाना चाहिए। इस विकास को व्यक्तित्व के अंतराल का ऐसा उभार कह सकते हैं जिसके कारण मनुष्य अपने आप में सुसंस्कृत और दूसरों की दृष्टि में दिव्य-चेतना संपन्न समझा जाता है। प्रत्यक्ष शरीर से अप्रत्यक्ष शरीरों का महत्त्व क्रमश: बढ़ता ही जाता है। अन्नमय, प्राणमय के आगे की सूक्ष्म काया मनोमय है, उसकी साधना को शारीरिक समर्थता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। शरीर को वाहन और मन को

शासक होने की वस्तुस्थिति को जो समझते हैं, उनके लिए मनोमय कोश की प्रगति और उसके लिए की जाने वाली ध्यान-धारणा का महत्त्व भी अविदित नहीं होना चाहिए।

(ठ) ध्यान करें-शरीर की हर इकाई-हर कोशिका में व्याप्त मनःतत्त्व, आकांक्षा के चिंतन सूत्रों की अनुभूति करें। उनका संबंध मस्तिष्क से, भ्रूमध्य स्थित आज्ञाचक्र से। अनुभव करें कि वहाँ एक दिव्य भँवर जिससे उठती विचार तरंगें सारे संस्थान में दौड़ रही हैं।



२. सविता अवतरण का ध्यान

बिजली के यंत्र संरचना की दृष्टि से पूर्ण होते है, पर उन्हें चलाने के लिए बाहर से आने वाली विद्युत धाराका समावेश आवश्यक होता है। शरीर अपने आप में पूर्ण है, पर उसे चलाने के लिए बाह्य जगत से ठोस, द्रव एवं वाष्पीय आहार का प्रबंध करना पड़ता है। शरीर अपने आप में पूर्ण है, पर उसकी विशिष्ट क्षमताओं को उभारने के लिए बाह्य जगत के महत्त्वपूर्ण साधन जुटाने पड़ते हैं। बीज की अंत:शक्ति खाद, पानी के सहारे ही उभरती है। व्यक्ति चेतना में उच्चस्तरीय प्रखरता उत्पन्न करने के लिए ब्रह्म चेतना के समावेश की आवश्यकता पड़ती है। विविध विधि योग साधनों द्वारा इसी प्रयोजन की पूर्ति की जाती है। भक्त और भगवान के बीच घनिष्ठता उत्पन्न होने से आदान-प्रदान का अतीव कल्याणकारी पथ-प्रशस्त होता है। ब्रह्मसत्ता की उसी की विनिर्मित प्रतीक-प्रतिमा सूर्य है। उसकी सचेतन स्थिति को सविता कहते हैं। उपासना की दृष्टि से जितना निर्दोष और प्रेरणाप्रद प्रतीक सूर्य है, उतना अन्य कोई चित्र या विग्रह हो नहीं सकता। इसमें संप्रदाय भेद भी आड़े नहीं आता। सार्वभौम-सर्वजनीन उपासना का आधार खड़ा करने में सविता से बढ़कर अधिक उपयुक्त माध्यम और कुछ मिल न सकेगा।

मनोमय कोश में सविता के प्रवेश की भावना आज्ञाचक्र में होते हुए मस्तिष्क क्षेत्र में, संपूर्ण शरीर में संव्याप्त मनोमय कोश में फैल जाने के रूप में की जाती है। इस ध्यान-धारणा के समय अनुभव किया जाता है कि आत्मसत्ता का समूचा चिंतन, क्षेत्र, मनोमय कोश सविता की ज्योति एवं ऊर्जा से भर गया। धूप में

बैठने से शरीर गरम होता है और प्रसन्नता की परिस्थिति में मन में उल्लास उभरता है। यह अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष होती हैं। इसी प्रकार मनोमय कोश में सविता देव के प्रवेश के कारण जो विशेषता उपलब्ध हुई, उसको स्पष्ट अनुभव करने का प्रयास करना चाहिए। यदि साधना में श्रद्धा होगी तो सविता शक्ति के वास्तविक प्रवेश को भाव क्षेत्र में प्रत्यक्ष अनुभूति की तरह ही छाया हुआ देखा जा सकेगा। नशा पीने पर आने वाली मस्ती सभी ने देखी है। भूत आदि का उन्माद-आवेश आने पर उसका प्रभाव कैसा होता है, यह भी सर्वविदित है। सविता शक्ति के आत्मसत्ता में प्रवेश करने और मनोमय कोश पर छा जाने की अनुभूति भी ऐसी ही गहरी, ऐसी ही भावमय एवं ऐसी ही स्पष्ट होनी चाहिए। यह सब अनायास ही नहीं हो जाता। साधक मूक दर्शक बना बैठा रहे और दिव्य शक्ति अपने आप अवतरित होती और अपना परिचय देती चली जाय, ऐसा नहीं हो सकता है। गंगावतरण के लिए भागीरथ को कठोर तप करना पड़ा था। हर साधक को अपनी भाव-संवेदनाओं को अभीष्ट स्तर तक विकसित करने के लिए घनघोर प्रयत्न करने पड़ते हैं। चित्रकला सीखने में आरंभिक प्रयत्नों को उपाहासास्पद और अनगढ़ ही कहा जा सकता है। सतत् अभ्यास से वह कला विकसित होती है और उच्चकोटि के चित्र बना सकने एवं चित्रकार के रूप में ख्याति पाने का अवसर मिलता है। भाव चित्र बनाने के संबंध में भी यही बात है। आरंभ के दिन से ही कल्पना क्षेत्र में मनचाही फिल्म स्वयमेव दृष्टिगोचर होती चली जाएगी, ऐसी अपेक्षा करना विशुद्ध रूप से बाल-बुद्धि है। वैसा हो नहीं सकेगा और ऐसी चाहना से मात्र निराशा ही हाथ लगेगी। भाव चित्र बनाने की विद्या को आध्यात्मिक तपश्चर्या मानना चाहिए। उसके लिए धैर्यपूर्वक सतत प्रयत्नरत रहना चाहिए। आरंभ में भाव पटल पर कुछ भी नहीं आता, किंतु धीरे-धीरे अभीष्ट चित्र आधे-अधूरे,अस्पष्ट-धुँधले दिखाई पड़ने लगते हैं।

आधार को अपनाये रहने पर क्रमशः भाव चित्र अधिकाधिक स्पष्ट एवं प्रखर होते चले जाते हैं और वह स्थिति आती है जिसे बाल-बुद्धि के साधक आरंभ के दिन ही बिना किसी प्रयत्न के देखने की अपेक्षा करते हैं।

मनोमय कोश में सविता शक्ति के प्रवेश की अनुभूति यह है कि वह समूचा क्षेत्र सविता शक्ति से भर रहा है। ज्योतिर्मय बन रहा है। आत्मसत्ता की स्थिति ज्योति पुंज एवं ज्योति पिंड बनने जैसी हो रही है। दृश्य में ज्योति का स्वरूप भावानुभूति में प्रज्ञा बन जाता है। ज्योति और प्रज्ञा एक ही तत्त्व है। उसका स्वरूप प्रकाश और गुण ज्ञान है। सविता के मनोमय कोश में प्रवेश करने का अर्थ है-चेतना का प्रज्ञावान बनना, ऋतम्भरा से, भूमा से आलोकित एवं ओत-प्रोत होना। यही है सविता का मनोमय कोश पर आच्छादन। इस स्थिति को विवेक एवं संतुलन का जागरण भी कह सकते हैं। इन्हीं भावनाओं को, मान्यता रूप में परिणत करना, श्रद्धा, निष्ठा एवं आस्था की तरह अंतःक्षेत्र में प्रतिष्ठापित करना, यही है सविता शक्ति का मनोमय कोश में अवतरण। इस क्षेत्र की ध्यान-धारणा का यही उद्देश्य है।

जागृत संकेतों को इस रूप में ग्रहण किया जाता है कि यह उपलब्धि हस्तगत हो रही है। जो भूतकाल में भी नहीं थी, भविष्य में भी नहीं होगी। जागरण का अनुभव वर्तमान काल से ही संबद्ध रहना चाहिए। मनोमय कोश जागृत, आज्ञाचक्र जागृत, तृतीय नेत्र जागृत, ज्ञान ज्योति जागृत, प्रज्ञा जागृत, विवेक जागृत, संतुलन जागृत। इन संकेतों के साथ-साथ ऐसी अनुभूति जुड़ी रहनी चाहिए कि यह जागरण ठीक इसी समय हो रहा है। आवश्यक नहीं कि पूर्ण जागरण ही हो और उसका पूर्ण प्रभाव तत्काल ही दिखाई दे। यह आंशिक एवं क्रमिक भी हो सकता है। शुक्ल पक्ष में दौज का चंद्रमा छोटा होता है और वह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को पूर्ण चंद्र बनता है। ठीक इसी प्रकार अपने मनोमय कोश के जागरण का क्रम भी ध्यान-

धारणा के साथ आरंभ होकर क्रमशः आगे-आगे बढ़ता चल सकता है।

ध्यान करें-सविता शक्ति नुकीले किरण पुंज के रूप में आज्ञाचक्र में प्रविष्ट होती है। चक्र के भँवर में तीव्रता, दिव्य-ज्योति का आभास, ज्योति का प्रकाश सारे मस्तिष्क में फैलता है। प्रज्ञा-विवेक की चमक मस्तिष्क के हर कण में प्रविष्ट हो रही है, संकल्पों में दृढ़ता आ रही है। सशक्त विचार संकेत सारे शरीर में संचरित हो रहे हैं। शरीरव्यापी मनस्तत्त्व, विचार प्रणाली में निखार आ रहा है।

२. (घ) विज्ञानमय कोश

अन्नमय, प्राणमय और मनोमय, ये तीन कोश प्रकृति परक हैं। इनका संबंध काय-कलेवर से है। यों यह तीनों ही चेतन हैं, पर इनकी चेतना शरीर के साथ गुँथी हुई है, पंचभूतों के समन्वय से ही इनका अस्तित्व है। स्थूल पंचतत्त्वों की रासायनिक एवं आणविक प्रक्रिया के आधार पर चेतना का जो अंश गतिशील रहता है, उसी की झाँकी इन तीन कोशों में मिलती है। यह पदार्थों की मात्रा तथा स्तर के आधार पर प्रभावित होते हैं। आहार न मिलने से अन्नमय कोश लड़खड़ा जाता है। उत्साहपूर्वक अनुकूल परिस्थितियाँ न मिलने से प्राण शिथिल पड़ जाता है। मस्तिष्क संस्थान में नशा, मूर्च्छा नस्य (क्लोरोफॉम) आदि आघात एवं स्थानीय व्याधि खड़ी हो जाने से चिंतन प्रक्रिया ठप्प अथवा विकृत हो जाती है। उत्तम आहार से शरीर, प्रोत्साहन से प्राण एवं प्रशिक्षण से मन का विकास होता है। इससे स्पष्ट है कि यह तीनों ही शरीर सचेतन होते हुए भी तत्त्वगत प्रकृति पर निर्भर हैं। इंद्रियाँ इन्हीं तीनों के साथ जुड़ी हुई हैं। वे पदार्थों एवं परिस्थितियों के अनुरूप सुख-दुःख अनुभव करती हैं। सुविधा की दृष्टि से यदि इन्हें स्थूल संज्ञा दी जाय तो भी कोई हर्ज नहीं। मरने के बाद प्रेत शरीर प्राणमय कोश का बना हुआ होता है। इससे उच्च स्थिति की आत्माएँ जिन्हें पितर कहा जाता है, मनोमय कोश के आधार पर बनते हैं। प्रेत निम्नकोटि के, उद्धत प्रकृति के होते और अशांत रहते हैं जब कि पितर दया, करुणा, विवेक युक्त होते हैं और मैत्री, उदारता एवं सहकारिता का परिचय देते हैं। इन तीनों ही शरीरों का परिचय यंत्रों, इंद्रियों के सहारे किसी न किसी

प्रकार मिलता रहता है। पंच तत्त्वों से तो प्रत्यक्ष शरीर बनता है, पर उनकी सूक्ष्म तन्मात्राएँ प्राणमय और मनोमय शरीरों की संरचना करती हैं। इन्हीं कारणों से उपर्युक्त तीनों शरीरों को प्रकृति परक माना गया है और उनकी चेतना को स्थूल वर्ग का गिना गया है।

सूक्ष्म वर्ग के दो शरीर है-विज्ञानमय और आनंदमय। इनका संबंध सूक्ष्म जगत से और ब्रह्म-चेतना से है। विज्ञानमय कोश की संरचना सूक्ष्म जगत से आदान-प्रदान कर सकने के उपयुक्त है। उसमें भाव संवेदनाओं की प्रधानता है। प्रेम तत्त्व की रसानुभूति सर्वोपरि है। इतनी सरसता जीवन के अन्य किसी पक्ष में, संसार की अन्य किसी विभूति में नहीं है। इसी से प्रेम को परमेश्वर कहा गया है। यह प्रेम तत्त्व अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है। घनिष्ठता, आत्मीयता, एकता, ममता, वात्सल्य, करुणा, सेवा, उदारता आदि अनेकों रूप उसके हैं। व्यक्ति और परिस्थिति के अनुरूप उसके प्रवाह एवं स्वरूप कई प्रकार के देखने में आते हैं। पत्नी, पुत्री, भगिनी, जननी के प्रति प्रेम तत्त्व की मात्रा समान होने पर भी उसके व्यवहार में अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है। सुखी के प्रति प्रसन्नता और दुःखी के प्रति करुणा व्यक्त करने में भी व्यवहार का अंतर रहता है, मूलतः वह सहानुभूति की ही संवेदना होती है। प्रेम का स्थान हृदय माना गया है। सहृदयता, सज्जनता की विवेचना करते हुए उसे हृदय से संबंधित कहा जाता है। यही हृदय एवं भाव संस्थान अध्यात्म शास्त्र में विज्ञानमय कोश कहा गया है।

व्यक्ति से व्यक्ति का संबंध बाजारू स्तर पर तो स्वार्थों के आदान-प्रदान पर टिका होता है, किंतु घनिष्ठ आत्मीयता आंतरिक संवेदनाओं के आधार पर जुड़ती है। वेश्या की घनिष्ठता अर्थ प्रधान है, उसका आरंभ, विकास एवं अंत इसी आधार पर होता है, किंतु माता और संतान के बीच, पति और पत्नी के बीच जो सघनता है, उसमें निस्वार्थ आत्मीयता का ही गहरा पुट रहता है।

भाव संवेदना इसी का नाम है। लोक-व्यवहार में तथा स्वार्थ-कौशल में जिस शिष्टाचार एवं चापलूसी का परिचय दिया जाता है, वह तो व्यावहारिक चतुरता भर है। आत्मीयता इससे कहीं गहरी वस्तु है। उसका उद्गम हृदय में होता है। इसलिए उसे प्रेम की संज्ञा दी जाती है और परमेश्वर के समतुल्य पवित्र एवं उत्कृष्ट गिना जाता है। यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है कि 'हृदय' शब्द से तात्पर्य अध्यात्म शास्त्र में 'रक्त-संचार' करने वाली थैली से नहीं, वरन् भाव संस्थान से है। चूँकि विज्ञानमय कोश का केंद्र काया में हृदय स्थान के इर्द-गिर्द माना गया है, इसलिए उसे 'हृदय' की संज्ञा दी गई है। 'प्रकाश' शब्द का भी अध्यात्म शास्त्र में 'ज्ञान' अर्थ होता है। रोशनी या चमक नहीं। अस्तु किसी को इन शब्दों के कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए और न तो रक्त-संचार की थैली को भाव संस्थान-हृदय समझना चाहिए और न 'प्रकाश' को चमक। इन्हें अधिक से अधिक प्रतीक, प्रतिमा या प्रतिनिधि की संज्ञा दी जा सकती है।

विज्ञानमय कोश का स्थान हृदय चक्र माना गया है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म-चक्र भी है। ब्राह्मी चेतना की ओर उसका प्रवाह रहने से ब्रह्म-चक्र नाम देना उपयुक्त ही है। भक्ति भाव से परमेश्वर को प्राप्त किया जाता है। जीव और ब्रह्म की एकता बढ़ाने में यह भक्ति ही प्रधान भूमिका बनाती है। भक्ति का प्रारंभिक रूप श्रद्धा है। श्रद्धा को जड़ और भक्ति को तना कहा जा सकता है। श्रेष्ठता के प्रति असीम प्यार को श्रद्धा कहते हैं और करुणा, सेवा, उदारता जैसी कोमल भाव संवेदनाओं को भक्ति। यह भक्ति ईश्वर के प्रति भी हो सकती है और उत्कृष्ट आदर्शों के प्रति भी। जहाँ श्रद्धा तत्त्व के लिए उपयुक्त आधार हो वहाँ व्यक्तियों से अथवा पदार्थों से भी भक्ति हो सकती है। गुरुजनों, महामानवों, तीर्थ, देव-प्रतिमा आदि के माध्यम से भक्ति भावना को विकसित करने का अभ्यास किया जा सकता है। ईश्वर भक्ति इसी प्रकार से आरंभ होकर ब्रह्म परायणता तक

विकसित होती चली जाती है। श्रद्धा की स्थापना एवं दृढ़ता में विवेक सहायक होता है। पहले यह परख की जाती है कि अमुक व्यक्ति या पदार्थ श्रद्धा के उपयुक्त है या नहीं। परख की कसौटी पर जब उत्कृष्टता का विश्वास हो जाता है तो श्रद्धा जगती और परिपक्व होती है। बिना विचारे भावावेश में, किसी के बहकावे में अथवा देखा-देखी जो लगाव उत्पन्न होता है, उसमें स्थायित्व नहीं होता। प्रामाणिकता के अभाव में तो अंध श्रद्धा ही हो सकती है और उसमें चंचलता एवं अस्थिरता ही बनी रहती है। अंध श्रद्धा से व्यर्थ के अथवा अनर्थ मूलक काम तो हो सकते हैं, किंतु उच्चस्तरीय त्याग, बलिदान कर सकने के लिए प्रामाणिक एवं विवेक सम्मत श्रद्धा ही काम देती है।

प्रेम यों कामुकता और मोहग्रस्तता के आकर्षणों में भी समझा जाता है, पर वस्तुतः उनमें उसकी छाया मात्र होती है। विज्ञानमय कोश के साथ जिस उच्चस्तरीय भाव संवेदना की दिव्य शक्ति जुड़ी रहती है, उसी का नाम पवित्र प्रेम है। उसी को परमेश्वर कहते हैं। रस का समुद्र वही है। श्रद्धा और भक्ति के रूप में उसी का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। श्रद्धा और विश्वास की शक्ति का परिचय हम प्रत्यक्ष प्राप्त करते रहते हैं। उसकी सामर्थ्य सत्य के ही समतुल्य है। रस्सी का साँप, झाड़ी का भूत जैसे भंयकर परिणाम विकृत श्रद्धा के ही हैं। प्रतिमा में देवता का प्रकटीकरण श्रद्धा का ही चमत्कार है। आस्था एवं निष्ठा भी श्रद्धा का ही वह भाग है जो व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित करता है। गीताकार की वह उक्ति पूर्णतया सत्य हैं जिसमें कि यो यच्छ्रद्धः एव स' में यह कहा है कि जिसकी जैसी श्रद्धा है वस्तुतः वह वैसा ही है। व्यक्तित्त्व हाड़-मास पर, शिक्षा साधनों पर नहीं, अपने संबंध में अपनी आकांक्षाओं एवं मान्यताओं के संबंध में बनाई गई आस्थाओं, निष्ठाओं एवं विश्वासों पर ही निर्भर रहता है। प्रकारांतर से इस हृदय चक्र को, विज्ञानमय कोश को ही समूचे व्यक्ति का बीजकारण एवं मूल आधार कह सकते

हैं। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय तो उसके सज्जा-साधन भर हैं।

परिष्कृत विज्ञान-चक्र में उत्पन्न चुंबकत्व ही दैवी तत्त्वों को सूक्ष्म जगत से आकर्षित करने और आत्मसत्ता में भर लेने की प्रक्रियाएँ संपन्न करता है। इसी से भक्ति एवं प्रेम को आत्मिक प्रगति का आधार माना गया है। प्रतिमा भक्ति से, गुरु भक्ति से अभ्यास करते-करते ब्रह्म-भक्ति का लक्ष्य प्राप्त कर सकने की स्थिति बन जाती है। देव शक्तियों से लेकर ब्रह्म प्राप्ति की समस्त सफलताएँ विज्ञानमय कोश की भाव संवेदनाओं के चुंबकत्व पर निर्भर रहती हैं। अनेक प्रकार की सिद्धियाँ एवं विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए जो विविध-विधि अनुष्ठान, उपचार, तप, साधन किए जाते हैं, उनका उद्देश्य साधक की श्रद्धा को परिपक्व करना है। वह जितनी ही प्रगाढ़ होती जाती है, दिव्य-लोक के अनेकानेक अनुदान, वरदान उसी आधार पर खिंचते, बरसते चले आते हैं। हृदय-चक्र की, विज्ञानमय कोश की प्रखरता ही मनुष्य को, महामानव, सिद्ध पुरुष, ऋषि, देवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति तक पहुँचाती है।

प्रत्यक्ष जगत की तरह ही-ठीक उसी के साथ सटा, घुला हुआ सूक्ष्म जगत है। स्थूल जगत की गतिविधियाँ इस सूक्ष्म जगत की हलचलों पर निर्भर रहती हैं। बीज में पूरा वृक्ष, शुक्राणु में पूर्ण प्राणी छिपा रहता है, पर दीखता नहीं। ठीक इसी प्रकार स्थूल जगत का प्राण सूक्ष्म जगत है। आंतरिक आकांक्षाओं केअनुरूप काय-कलेवर की गतिविधियाँ चलती हैं। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म जगत में इस विश्व का भूत और भविष्य विद्यमान रहता है। स्थूल जगत में भी वर्तमान का बहुत ही उथला इंद्रियगम्य भाग भर दिखाई देता है। उसका भी अधिकांश भाग अप्रत्यक्ष ही रहता है। सूक्ष्म जगत एक विशाल समुद्र है। स्थूल जगत को तो उसकी कुछ सामयिक लहरें भर कह सकते हैं। सामान्यतया हमारी गतिविधियाँ तथा जानकारियाँ स्थूल जगत तक ही सीमित रहती हैं, पर यदि विज्ञानमय कोश समर्थ

हो तो सूक्ष्म जगत की समस्त हलचलों को देख, समझ सकते हैं तथा भूत एवं भविष्य की परिस्थितियों से अवगत रह सकते हैं। दूरवर्ती एवं अदृश्य को देख सकना भी हमारी दिव्य दृष्टि के लिए संभव हो जाता है। इसी विशिष्ट क्षमता को अतींद्रिय ज्ञान कहते हैं। सिद्ध पुरुषों में उसी स्तर की अनेक अलौकिक विशेषताएँ देखी जाती हैं। वे न केवल सूक्ष्म जगत की परिस्थितियों तथा संभावनाओं को जान ही लेते हैं, वरन् उन्हें प्रभावित करने में भी समर्थ होते हैं। शाप से प्रतिकूल और वरदान से अनुकूल परिस्थितियाँ सामने आती हैं। यह सिद्ध पुरुषों का अपना पुरुषार्थ है जो सूक्ष्म जगत से अपने प्रभाव-पराक्रम के द्वारा उनने उपार्जित किया होता है।

अपने इस स्थूल जगत के आदान-प्रदान कितने सुखद होते हैं, उस सरसता के प्रति आकर्षित एवं मुग्ध होने के कारण ही जीवात्मा इस मल-मूत्र की गठरी में निर्वाह करने के लिए सहमत हो सका है। मरते समय कोई भी इसे स्वेच्छा से नहीं त्यागना चाहता और मौत से डरता है। यह जड़ जगत से संबंधित पदार्थों और प्राणियों की सुखद प्रतिक्रिया ही है जिसमें रस लेने के लिए आत्मा ने जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करते रहना स्वीकार किया है। सूक्ष्म जगत की उपलब्धियाँ और अनुभूतियाँ इससे असंख्य गुनी बढ़ी-चढ़ी हैं। उससे जिनका संबंध है, जो उसे देखते, अनुभव करते हैं, वे स्वर्गलोक में रहने वाले देवताओं की तरह सुखी, संतुष्ट रहते हैं। उनके पास इतनी विभूतियाँ होती हैं कि अपनी आवश्यकता से अधिक देखकर उन्हें वे दूसरे जरूरतमंदों में बाँटते, बिखेरते, महानतम दानवीरों की तरह स्वयं सुखी रहते और दूसरों को सुखी बनाते हैं।

विज्ञानमय कोश का केंद्र हृदय-चक्र है। इस शक्ति भँवर में, समर्थ चक्रवात में निवास करने वाली आत्म चेतना के लिए यह सरल पड़ता है कि वह ब्रह्म-चेतना के साथ अपनी विशेष स्थिति के कारण घनिष्ठता स्थापित कर ले। इस सफलता के सहारे मिलने

वाली उपलब्धियाँ इतनी गरिमामयी हैं कि उन्हें पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है।

ध्यान करें-शरीर सूक्ष्म तत्त्व से बना तेज पुंज, हृदय क्षेत्र में तेजोवलय जैसी घनी भँवर, उससे उठती तरंगें शरीर में तरंगित होती हैं और चारों ओर प्रकाश के समूह में, अंतरिक्ष में फैल जाती हैं।



२. सविता अवतरण का ध्यान

विज्ञानमय कोश की ध्यान-धारणा में हृदय चक्र के माध्यम से सविता देव के प्रवेश-समावेश की भावना की जाती है और अनुभव किया जाता है कि विज्ञानमय कोश सविता शक्ति से ओत-प्रोत हो रहा है। सविता को प्रकाश और शक्ति का केंद्र माना गया है। जहाँ उनका प्रवेश होगा, वहाँ ये दोनों ही क्षमताएँ उभरी हुई अनुभव में आएँगी। विज्ञानमय कोश प्रकाशवान हो रहा है और उसमें पहले की अपेक्षा अधिक सशक्तता उभर रही है, ऐसा प्रतीत होगा। विज्ञानमय कोश को इस धारणा के समय इसी प्रकार प्रकाश एवं दिव्य बल से भरा-पूरा अनुभव करना चाहिए।

विज्ञानमय कोश में सविता प्रकाश रूप 'दीप्ति' माना गया है। दीप्ति प्रकाश की वह दिव्य-धारा है जिसमें प्रेरणा एवं आगे बढ़ाने की शक्ति भी भरी रहती है। ऐसी क्षमता को 'वर्चस्' कहते हैं। ब्रह्मवर्चस् ब्रह्मबल को कहते हैं और आत्मवर्चस् आत्मबल को। दीप्ति सविता वर्चस् है। जो प्रकाश युक्त होने के साथ-साथ धकेलने का काम भी करती है। साधारणतया इसे प्रेरणा कहा जा सकता है। यद्यपि वह प्रेरणा से ऊँची चीज है। प्रेरणा से दिशा प्रोत्साहन देने जैसा भाव टपकता है, किंतु वर्चस् में यह चमक है जो धकेलने, घसीटने, फेंकने, उछालने की भी सामर्थ्य रखती है। विज्ञानमय कोश को सविता पिंड, सविता पुंज के रूप में अनुभव करने के अतिरिक्त नस-नस में, कण-कण में, रोम-रोम में, दीप्ति का संचार होने की अनुभूति के रूप में हृदयंगम किया जाता है।

दीप्ति का प्रभाव विज्ञानमय कोश में दो प्रकार होता है- एक दिव्य भाव संवेदनाओं के रूप में, दूसरा अतींद्रिय ज्ञान के रूप में।

अतींद्रिय ज्ञान को दिव्य दृष्टि और दिव्य भाव संवेदना को सहृदयता कह सकते हैं। दीप्ति की प्रेरणा से सद्‌भावनाओं का अभिवर्धन होता है और सहृदयता जैसी सत्प्रवृत्तियाँ उभर कर आती हैं, ऐसी आस्था अंत:करण में सुदृढ़ की जानी चाहिए। दूसरों के दु:ख में दु:खी, दूसरों के सुख से सुखी होने की, आत्मवत् सर्वभूतेषु की, संवेदनाएँ उभरने से 'सब हमारे-हम सबके' होने की मान्यता परिपुष्ट होती हैं। फलत: संकीर्ण स्वार्थपरता उदात्त परमार्थपरायणता में बदल जाती है। इस प्रकार की आस्था का सुदृढ़ होना आत्मविकास का प्रत्यक्ष प्रमाण माना जा सकता है।

ध्यान-धारणा के अवसर पर यह मान्यता सुदृढ़ करनी चाहिए कि विज्ञानमय कोश वाली आत्मसत्ता सूक्ष्म जगत की नागरिक है। उस देश में उसे निवास करने, व्यापार चलाने एवं आदान-प्रदान का अधिकार प्राप्त है। हर देश के नागरिक अपने देश की स्थिति का लाभ उठाते और उसे सुविकसित बनाने में योगदान करते हैं। इसी प्रकार विज्ञानमय कोश के जागरण के अनुपात से सूक्ष्म जगत की नागरिकता का स्तर बढ़ता चला जाता है। उस प्रगति के आधार पर सूक्ष्म जगत में हलके अथवा भारी दायित्व उठा सकने की स्थिति बनती चली जाती है। अतींद्रिय ज्ञान किन्हीं-किन्हीं को पूर्वजन्मों के संचित संस्कारों से अनायास ही बिना किसी प्रयत्न के भी जगता देखा गया है। ऐसे लोग भी देखे गए हैं जिनमें बिना विशेष साधना के भी अतींद्रिय क्षमता विकसित पाई गई है। यह अपवाद है। प्रयत्नपूर्वक कोई भी आत्मविकास की साधना करते हुए विज्ञानमय कोश को दिव्य-शक्ति से, सविता शक्ति से भरा-पूरा बना सकता है और मनुष्यों के बीच, देवलोक के निवासियों की तरह अपनी विशेष स्थिति बनाए रह सकता है।

ध्यान करें-सविता शक्ति के किरण पुंज का हृदय चक्र में प्रवेश, चक्र-भँवर की आभा बढ़ती है। दिव्य

संवेदनाओं का संचरण सारे अंतःकरण में होता है। सूक्ष्म जगत की तरंगों का हृदय चक्र से सीधा संपर्क-दोनों का आदान-प्रदान होता हुआ अनुभव करें। स्वयं को असीम सत्ता में व्याप्त, फैला हुआ अनुभव करें। सहृदयता, श्रद्धा, दिव्य-ज्ञान का विकास हो रहा है। स्नेह, करुणा जैसी संवेदनाओं के रोमांच का शरीर में बोध होता है।



२. (ङ) आनन्दमय कोश

आनंदमय कोश चेतना का वह स्तर है जिसमें उसे अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति होती रहती है। अपने लोक का, अपने आधार का, अपने वैभव का, अपने अधिष्ठाता का भाव रहने से उसे प्रतीत होता है कि मैं पूर्ण में से उत्पन्न हुआ पूर्ण ही हूँ। इस वस्तुस्थिति की चर्चा तो कथा, प्रवचनों में प्रायः सुनने को मिलती रहती है। लोग परस्पर इस ब्रह्मज्ञान की चर्चा भी करते हैं, पर यह मस्तिष्कीय जानकारी जिह्वा और कान का विषय बनकर रह जाती है। अंतःकरण में कभी वैसी गहन अनुभूति उठती नहीं। यदि कभी वैसा अनुभव करने की स्थिति बन पड़े तो समझना चाहिए कि आत्मबोध का परम सौभाग्य उपलब्ध हो गया। इस सुयोग को आत्मज्ञान, आत्मानुभूति, आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार, आत्मनिर्वाण आदि गौरवास्पद नामों से पुकारा जाता है।

आत्मबोध के दो पक्ष हैं–एक के अनुसार अपनी ब्राह्मी–चेतना, ब्रह्मसत्ता का भान होने से अयमात्मा ब्रह्म, चिदानंदोऽहम्, शिवोऽहम्, सच्चिदानंदोऽहम् का अनुभव करते हुए आत्मसत्ता में संव्याप्त परमात्मसत्ता का दर्शन होता है, वहाँ दूसरी ओर संसार के प्राणियों और पदार्थों के साथ अपने वास्तविक संबंधों का तत्त्व ज्ञान भी प्रकट हो जाता है। इस संसार का हर पदार्थ परिवर्तनशील, नाशवान एवं निर्जीव है। उसमें जो सुखद अनुभूतियाँ होती हैं वे मात्र अपनी ही आस्था एवं आत्मीयता के आरोपण की प्रतिक्रिया मात्र होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपना स्वतंत्र अस्तित्व लेकर जन्मा है। परस्पर तो मात्र सामयिक कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से ही बँधे हैं। न कोई अपना है और न पराया। सभी ईश्वर के खिलौने और

परस्पर साथी-सहचर की तरह निर्वाह कर रहे हैं। इस तत्त्व ज्ञान के अंतरात्मा में प्रकट होते ही वस्तुओं का लोभ और प्राणियों का मोह तिरोहित हो जाता है। समस्त अटपटे, असंगत, अवांछनीय क्रिया-कलाप इसी मोहग्रस्तता के उन्माद में बन पड़ते हैं। दुर्भावनाएँ, दुश्चिंतन, दुष्कर्मों की काली घटाएँ इसी बौद्धिक नशे की स्थिति में उठती हैं। उन्हीं की प्रतिक्रियाएँ चित्र-विचित्र रोग-संतापों के रूप में प्रकट होती है और सुरदुर्लभ मानव जीवन को नारकीय निकृष्टता से भर देती है। खीझ, असंतोष, पतन इसी आंतरिक पतन का दुर्भाग्यपूर्ण प्रतिफल हैं। जो इन तथ्यों को समझ लेता है, उसके लिए ईश्वर के इस सुरम्य उद्यान में शोक-संताप का कोई कारण शेष नहीं रह जाता। अज्ञान का अंधकार मिट जाने से सर्वत्र ब्रह्म का दिव्य प्रकाश ही छाया दीखता है। उसमें आनंद के अतिरिक्त और कहीं कुछ भी ऐसा शेष नहीं रह जाता, जो अंतःकरण को प्रभावित कर सके।

यह आत्मानुभूति ही आनंदमय कोश की परिष्कृत स्थिति है। इसमें सदा एक आनंद भरी मस्ती छाई रहती है। अपने भीतर ब्रह्म और ब्रह्म के गर्भ में अपना अस्तित्व अनुभव होता रहता है। ऐसी स्थिति में अंतरात्मा को निरंतर तृप्ति-तुष्टि-शांति की स्वर्गीय अनुभूतियों का रसास्वादन करते रहने का अनवरत अवसर मिलता रहता है। मनुष्य जीवन जैसा अनुपम उपहार और आत्मज्ञान जैसा दिव्य वरदान पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता, उस स्थिति में संतोष की शांति छाई रहती है। इसी को तृप्ति-तुष्टि कहते हैं। अंधकार चले जाने पर प्रकाश ही प्रकाश शेष रह जाता है। अज्ञान के साथ ही समस्त शोक-संताप, भय एवं संकट जुड़े रहते हैं। उसके समाप्त हो जाने पर उल्लास की वह मस्ती छाई रहती है, जिसे देवलोक का अमृत एवं सोमरस कहते हैं। इस स्थिति में रहने वाले परमहंस, स्थिति-प्रज्ञ, अवधूत, ब्रह्मज्ञानी आदि नामों से पुकारे जाते हैं। उन्हें जीवन-मुक्त भी कहते हैं। अवतार, देवदूत, युग पुरुष, तत्त्वदर्शी भी

इसी स्तर के लोगों को कहा जाता है। उनके सामने न कोई व्यक्तिगत समस्या होती है और न आकांक्षा। ईश्वरीय इच्छाओं को ही अपनी इच्छा मानते हैं और समय की आवश्यकताओं को ही अपनी आवश्यकता समझ कर उसकी पूर्ति में प्रखर कर्तव्य-परायण किंतु नितांत वैरागी की तरह काम करते हैं। सफलता-असफलता उन्हें प्रभावित नहीं करती, वे मात्र इतना ही सोचते हैं कि अपनी भावना एवं क्रिया का स्तर उच्चकोटि का रहा या नहीं। यही आनंदमय कोश के परिष्कृत होने का चिह्न हैं। वे आनंद के अमृत से भरे रहते हैं और जो भी संपर्क में आता है, उसी पर यह अमृत छिड़कते रहते हैं। स्वयं हँसते और दूसरों को हँसाते हैं। स्वयं खिलते और दूसरों को खिलाते हैं। स्वयं तरते और दूसरों को तारते हैं। चंदन वृक्ष की तुलना ऐसे ही महामानवों से की जाती है। उनके निकट उगने वाले झाड़-झंखाड़ भी सुगंधित होते हैं। पारस इसी प्रकार के व्यक्तित्वों का नाम है, उन्हें छूने वाले लौह खंड भी स्वर्ण संपदा बनते हैं और सम्मानित होते हैं। कल्पवृक्ष यही है जिनकी छाया में बैठकर मनोविकारों की आग में जलने वाले लोग कामनाओं की पूर्ति से भी बड़ा संतोष कामना परिष्कार के रूप में पाते हैं। अमृत का जो भी रसास्वादन करता है, अमर बनता है। आनंदमय कोश में जागृत चेतना भी अमृत है, उसका थोड़ा-सा अनुग्रह पाकर भी कितनों को ही उत्कृष्टता की गरिमा प्राप्त करने का अवसर मिलता है। सूर्य के प्रकाश से रात्रि के अंधकार को दिन में परिवर्तित होते देखा जाता है। आत्मानंद के प्रकाश से प्रकाशवान व्यक्तित्व अपने युग का अंधकार निगलते हैं और प्रभातकालीन सूर्य की तरह सर्वत्र आशा और उमंग भरा उत्साह बिखेरते हैं। वे स्वयं धन्य बनते हैं और अपने पीछे अनुकरणीय परंपरा छोड़कर युग को, क्षेत्र को, कुल को, इतिहास को धन्य बनाते हैं।

शरीर और आत्मा की भिन्नता का तत्त्वबोध होने पर वह शरीराभ्यास घट जाता है, जिसके भव-बंधन प्राणी को दुसह दुःख

पहुँचाते हैं। वासना, तृष्णा और अहंता उन्हें ही सताती हैं जो अपने को शरीर मानते और उसकी सुविधाओं को ही सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। ऐसे ही लोग उद्विग्न, खिन्न, अशांत, क्रुद्ध, रुष्ट, चिंतित, आतंकित पाए जाते हैं। असंख्य कामनाएँ उन्हें ही सताती हैं और अभावों, असफलताओं के नाम पर सिर धुनते ऐसे ही लोगों को देखा जाता है। जब अंतःकरण यह तथ्यतः स्वीकार कर लेता है कि हम आत्मसत्ता हैं। शरीर तो एक निर्जीव वाहन, उपकरण मात्र है तो उसकी ललक, लिप्साएँ भी बाल-क्रीड़ा जैसी महत्त्वहीन लगने लगती है। इस स्थिति में सारा ध्यान आत्मकल्याण के लिए महान कार्य करने पर केंद्रित रहता है। शरीर के लिए तो निर्वाह, व्यवस्था का प्रबंध करते रहना भर पर्याप्त लगता है। इस बदली हुई मनःस्थिति में जीवन का स्वरूप ही बदल जाता है। मोहग्रस्त, माया बंधनों में बँधे हुए नर-पशु जिस प्रकार सोचते हैं, उसकी तुलना में इन आत्मवेत्ताओं का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न होता है। वे जो सोचते हैं, जो करते हैं, वह ऐसा होता है जिसके लिए अंतःक्षेत्र में आत्मसंतोष की और बाह्य क्षेत्र में श्रद्धा, सहयोग की अजस्त्र वर्षा होती रहे। आनंदमय कोश का जागरण ऐसी ही देवोपम मनःस्थिति और स्वर्गीय परिस्थिति को इसी जीवन में प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

आनंदमय कोश चेतना की वह उत्कृष्टतम स्थिति है जिसमें पहुँचा हुआ मनुष्य सामान्य स्थिति में निर्वाह करता हुआ भी ब्रह्मवेत्ता कहलाता है और अपने अनुदानों की समस्त मानव जाति पर सुधा वर्षा करता है। पंचकोशों केजागरण में आनंदमय कोश की ध्यान-धारणासे व्यक्तित्व में ऐसे परिवर्तन आरंभ होते हैं, जिनके सहारे क्रमिक गति से बढ़ते हुए धरती पर रहने वाले देवता के रूप में आदर्श जीवनयापन कर सकने का सौभाग्य मिलता है।

ध्यान करें-शरीर स्थूल पदार्थ नहीं, तेज रूप है। मस्तिष्क मध्य में, सहस्त्रार चक्र में, विद्युत का एक फौआरा जैसा चल रहा है। उसके स्फुलिंग, दिव्य उल्लास युक्त, दिव्य शक्ति युक्त तथा प्रेरणा युक्त हैं। □

२. सावित्री अवतरण का ध्यान

आनंदमय कोश यों तो अपने स्थूल शरीर में ही समाया हुआ एक दिव्य शरीर है, पर उसे पकड़ना, प्रभावित करना हो तो उसके केंद्र स्थान सहस्रार चक्र से संबंध मिलाना होगा। सहस्रार चक्र मस्तिष्क के मध्य भाग में माना गया है, उसे ब्रह्मरंध्र भी कहते हैं।

पृथ्वी के उत्तर ध्रुव पर अंतर्ग्रही शक्तियों का अवतरण होता है। उसी अनुदान पर पृथ्वी अपनी महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं का एक बड़ा भाग पूरा करती है। मनुष्य भी पृथ्वी के समान ही एक पूरा ग्रह है। उसका मस्तिष्कीय मध्य केंद्र ब्रह्मरंध्र उसी प्रकार है जैसे पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव प्रदेश का वह केंद्र जिसे धुरी कहा जाता है और उससे पृथ्वी की भ्रमणशीलता का सारा संतुलन बना हुआ है। मस्तिष्क का मध्य बिंदु सहस्रार है। इसी स्थल के साथ ब्रह्मसत्ता के साथ उसका संबंध जुड़ता है। नाभिनाल से माता और भ्रूण का संबंध जुड़ता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मसत्ता और आत्मसत्ता के बीच का आदान-प्रदान इसी ब्रह्मरंध्र के मध्यवर्ती सहस्रार घटक पर निर्भर रहता है।

पुराणों में ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और रुद्रलोक का बड़ा आकर्षक एवं विचित्र वर्णन है। अनंत जलराशि, सहस्र दल कमल पुष्प, उस पर ब्रह्मा जी की तप-साधना का स्थान,यही है ब्रह्मलोक। सहस्र फन वाले शेष सर्प की शैया, विष्णु भगवान का शयन, यही है विष्णुलोक। कैलाश पर्वत, मानसरोवर, सर्प मालाओं का धारण शिवलोक। इन तीनों देवताओं के लोकों का वर्णन मस्तिष्क मध्य के सहस्रार चक्र के साथ ठीक प्रकार बैठ जाता है। मस्तिष्क में भरी हुई मज्जा को जलराशि, समुद्र, मानसरोवर समझा जाना चाहिए। सहस्र

फन वाला सर्प, सहस्र दल, कमल-शंकर के गले का सर्प महा-काल कुंडलिनी का महासर्प, इन आसनों पर विराजमान ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सद्‌गुरु आदि, यह सारा अलंकारिक चित्रण मस्तिष्क के मध्य भरे हुए गीले पदार्थ का, उसके मध्य सहस्रार बिंदु का और उसके साथ जुड़े हुए ब्राह्मी आदान-प्रदान का परिचय देता है। सहस्रार स्थल पर गढ़ी हुई कीर्ति ध्वजा शिखा है। जिसे हिन्दू धर्म में साक्षात् देव प्रतिमा के तुल्य पवित्र माना जाता है और मुंडन संस्कार के साथ समारोहपूर्वक प्रतिष्ठापित माना जाता है।

सविता शक्ति का आनंदमय कोश में प्रवेश करने का मार्ग यही सहस्रार चक्र है। अन्य चक्रों की तरह इसका स्वरूप भी शक्ति भँवर, समर्थ चक्रवात जैसा है। विशेषता के अनुरूप उसे सहस्र दल कमल कहा जाता है । सूर्य की हजारों किरणें, समुद्र की हजारों लहरें, ब्रह्म की हजारों आँखें एवं भुजाएँ प्रख्यात हैं। इस केंद्र से भी सहस्रों दिव्य धाराएँ विशिष्ट फुहारे की तरह छूटती है। इन सब तथ्यों का ध्यान रखते हुए उसे सहस्र दल कमल की संज्ञा दी गई है। सहस्रार का अर्थ है सहस्र आरे वाला। आरे में छोटे-छोटे दाँते होते हैं। इन्हें कमल पुष्प की पंखुरियों के समतुल्य माना गया है। आतिशबाजी की फुलझड़ी में जिस प्रकार एक साथ सहस्रों चिनगारियाँ छूटती हैं, उसी प्रकार इस सहस्रार से भी अगणित शक्ति प्रवाह छूटते हैं और आत्मसत्ता के विभिन्न केंद्रों को विभिन्न प्रकार से लाभान्वित करते हैं।

आनंदमय कोश की ध्यान-धारणा में सविता का सहस्रार मार्ग से प्रवेश करके समस्त कोश सत्ता पर छा जाने, ओत-प्रोत होने का ध्यान किया जाता है। यदि संकल्प में श्रद्धा, विश्वास की प्रखरता हो तो सहस्रार का चुंबकत्व सविता शक्ति को प्रचुर परिमाण में आकर्षित करने और धारण करने में सफल हो जाता है। इसकी अनुभूति कांति रूप में होती है। कांति सामान्यतया सौंदर्य मिश्रित प्रकाश को कहते हैं और किसी आकर्षक एवं प्रभावशाली चेहरे को कांतिवान कहते

हैं, पर यहाँ शरीर की नहीं आत्मा की कांति का प्रसंग है, इसलिए वह तृप्ति, तुष्टि एवं शांति के रूप में देखी जाती है। तृप्ति अर्थात् संतोष। तुष्टि अर्थात् प्रसन्नता। शांति अर्थात् उद्वेग रहित, सुस्थिर मनः स्थिति। यह तीनों वरदान, तीनों शरीरों में काम करने वाली चेतना के सुसंस्कृत उत्कृष्ट चिंतन का परिचय देती हैं। स्थूल शरीर संतुष्ट, तृप्त। सूक्ष्म शरीर प्रसन्न, तुष्ट। कारण शरीर शांत समाहित। यही वह स्थिति है जिसमें सहज मुस्कान बनी रहती है। हलकी-सी मस्ती छाई रहती है। कबीर ने इसी को सहज समाधि कहा है।

सहस्रार को अंतर्जगत का सविता माना गया है। प्रातःकालीन स्वर्णिम सूर्य को सविता कहा गया है। ब्रह्मांड का सूर्य आकाश में चमकता है। जीव पिंड का सविता सहस्रार हैं उसे भी उदीयमान स्वर्णिम सूर्य की संज्ञा दी गई है। ब्रह्मांड की अपनी सीमा में जो कार्य सविता करता है, लगभग वैसा ही सहस्रार द्वारा आत्मसत्ता के पाँचों कोशों, छहों चक्रों तथा अन्य स्थूल-सूक्ष्म अवयवों में संपन्न किया जाता है।

आनंदमय कोश की जागृति में आत्मबोध,तत्त्वबोध, ब्रह्मबोध का त्रिविध उब्दोधन समन्वित है। सविता का दिव्य प्रकाश इन त्रिविध अनुदानों से साधकों को लाभान्वित कर सके, इसी के लिए यह ध्यान-धारणा की जाती है।

ध्यान करें-सविता शक्ति का किरण पुंज सहस्रार चक्र में प्रविष्ट, मस्तिष्क के मध्य में दिव्य आलोक की तरंगें, फुहारें अधिक स्पष्ट, अधिक प्रखर हो रही हैं। वहीं आलोक की तरंगें दूर-दूर तक फैल रही हैं। सर्वत्र आत्मतत्त्व, सर्वत्र अपनी सत्ता की अनुभूति। अद्‌भुत शांति, तुष्टि, तृप्ति का बोध, पूर्ण-काम, स्थित-प्रज्ञ, अवधूत स्थित का बोध। आत्मसत्ता एवं ब्रह्मसत्ता में अभेद का अनुभव।



३. (क) कुंडलिनी के पाँच नाम पाँच स्तर

कुंडलिनी जागरण ध्यान-धारणा के साथ ही ध्यान भूमिका में प्रवेश का प्रथम चरण जुड़ा है। उसकी व्याख्या पंचकोशी ध्यान के क्रम में दी जा चुकी है। अस्तु यहाँ कुंडलिनी जागरण के विशिष्ट ध्यान प्रयोग से ही व्याख्या का आरंभ किया गया है।

कुंडलिनी शक्ति की व्याख्या, विवेचना, परिभाषा पाँच नामों से की जाती है-(१) प्राण विद्युत (२) जीवनी शक्ति (३) योगाग्नि (४) अंतःऊर्जा (५) ब्रह्म-ज्योति। इन शब्दों में जो संकेत सन्निहित है, उनसे न केवल उसके स्वरूप एवं प्रतिफल का बोध होता है, वरन् क्रमिक विकास का भी पता चलता है। जैसे-जैसे यह जागरण प्रक्रिया प्रखर होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके स्तर निखरते-उभरते चले आते हैं और एक के बाद दूसरी अधिक गहरी एवं अधिक समर्थ विभूति का प्रमाण-परिचय मिलता है।

शरीर शास्त्र की दृष्टि से कुंडलिनी का विश्लेषण प्राण विद्युत एवं जीवनी शक्ति के रूप में किया जाता है। ज्ञान तंतुओं को सचेतन रखने वाली, मस्तिष्क को सक्षम बनाए रहने वाली और काया के घटक अवयवों को सक्रिय बनाये रहने वाली बिजली को प्राण विद्युत कहते हैं। यह यांत्रिक बिजली से मिलती-जुलती है। उसे यंत्रों से नापा जा सकता है, फिर भी उसमें जैव तत्त्वों का सम्मिश्रण है, इसमें विचारणा और भावना से प्रभावित होने और उन्हें प्रभावित करने की ऐसी विशेष क्षमता है जो यांत्रिक बिजली में नहीं पाई जाती।

प्राण विद्युत की न्यूनाधिकता के आधार पर मनुष्य का साहस, पराक्रम, संकल्प और आत्मविश्वास घटता-बढ़ता है। प्रतिभा इन्हीं विशेषताओं का समन्वय है जो उत्साह बनकर मन में और स्फूर्ति बन कर शरीर में विविध प्रकार की हलचलें करती दिखाई पड़ती है। इसी विद्युत की न्यूनाधिकता के आधार पर पारस्परिक आदान-प्रदान चलते हैं। एक दूसरे को प्रभावित करते एवं प्रभावित होते हैं। प्रतिभाशाली लोग अपने संपर्क क्षेत्र को ही नहीं,समूचे वातावरण पर छाप छोड़ते और उन्हें मोड़ने-मरोड़ने में सफल होते हैं। यही प्राण विद्युत जब आंतरिक उत्कृष्टता के साथ जुड़ता है तो मनुष्य महामानवों जैसी गतिविधियाँ अपनाने के लिए एकाकी चल पड़ता है। उसे न किसी परामर्श-सहयोग की आवश्यकता होती है और न किसी विरोध-अवरोध का कोई प्रभाव पड़ता है। साहसिकता अपने आप में एक प्रचंड शक्ति है जो प्रचंड मनोबल के रूप में काम करती है और स्वल्प साधनों के होने पर भी महान प्रयोजन पूरे कराने के लिए बढ़ाती घसीटती-चली जाती है।

यह प्राण विद्युत शरीर में सौंदर्य, चुंबकत्व, आकर्षण पैदा करता है और कलपुर्जों में उत्साह भरता है। इसकी उपयुक्त मात्रा जहाँ भी होगी वहाँ आलस्य और प्रमाद ठहर न सकेंगे। अस्तव्यस्तता की अव्यवस्था की कुरूपता भी वहाँ दृष्टिगोचर न होगी। प्रगतिशील जीवन इसी उत्साह और स्फूर्ति के समन्वय से आरंभ होता है और जिस भी दिशा में अंतःकरण चाहे, उसी में बढ़ता चला जाता है। कुंडलिनी जागरण की आरंभिक सिद्धियाँ इसी स्तर की देखी जाती हैं। उन्हें सँजोने वाली इसी विद्युत शक्ति के रूप में कुंडलिनी का प्रथम परिचय मिलता है।

इस महाशक्ति का दूसरा नाम है-जीवनी शक्ति। जीवनी शक्ति का सामान्य अर्थ उस शक्ति भंडार से समझा जाता है जिसके आधार पर मनुष्य सुदृढ़ रहता है, सामर्थ्यवान और दीर्घजीवी होता है। कठिनाइयों, अभावों एवं संकटों के बीच भी धैर्यपूर्वक अपनी स्थिरता

बनाए रहता है। बीमारियों से लड़कर उन्हें भगाने में अथवा लंबे समय तक उनके रहते हुए भी निर्वाह करते रहने में यही शक्ति काम करती है। इसके अभाव में मनुष्य खोखला रहता है और तनिक से प्रतिकूल आघात पड़ने पर चित्त-पट्ट हो जाता है। चार दिन की बीमारी के बाद हफ्तों चारपाई पकड़े रहता है और महीनों में कुछ करने लायक बनता है। तनिक-सी प्रतिकूलता आने पर इतना घबराता है, मानो संसार भर की विपत्ति इकट्ठी होकर इसी के सिर पर गिर पड़ी है। आवेशग्रस्त, अधीर मनुष्य आत्महत्या एवं दूसरों पर घात करने तक में नहीं चूकते। उनका विवेक समाप्त हो जाता है और आत्मरक्षा के नाम पर ऐसा कुछ कर गुजरते हैं, जिसके लिए सदा के लिए मात्र पश्चात्ताप ही करना शेष रह जाय। धैर्य, साहस और विवेक का समन्वित सुयोग मनःक्षेत्र पर छाई हुई जीवनी शक्ति का ही प्रतिफल है।

समझा जाता है कि भोजन अथवा सुविधाओं के आधार पर लोग दीर्घजीवी होते हैं। यह आंशिक सत्य है। प्रकृति के अनुकूल चलना अच्छी आदत है, किंतु बात इतने से ही नहीं बनती। प्रतिकूलताओं के बीच रहने वालों की बलिष्ठता बनी रहने का फिर कोई कारण नहीं रह जाता है। घोर शीत के उत्तरी ध्रुव प्रदेश में चिरकाल से रहती चली आ रही एक्सिमो जाति का अस्तित्व कैसे बना हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर आहार-बिहार की सुव्यवस्था के रूप में नहीं दिया जा सकता है। रूस के उजबेकिस्तान में सौ से लेकर पौने दो सौ वर्ष के मनुष्य अभी भी जीवित रहते हैं। इसका कारण अन्न-जल, सुविधा-साधन अथवा रहन-सहन के सामान्य नियमों को आगे रखकर नहीं दिया जा सकता। यह सब जीवनी शक्ति के दिव्य भंडार की प्रचुरता के ही चमत्कार है। इस शक्ति के रहते प्रकृति के विपरीत आहार-विहार करते रहने पर भी सुदृढ़ बने रहा जा सकता है। हिमाच्छादित प्रदेशों में रहने वाले योगियों का भोजन आहार शास्त्र की दृष्टि से कुपोषण स्तर का कहा जा सकता

है, फिर भी वे आश्चर्यजनक दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं। कई आसुरी वृत्ति के लोग भी हर प्रकार को उच्छृंखलता बरतते हैं और दैत्यों की तरह बलिष्ठ बने रहते हैं। इन तथ्यों के पीछे झाँकती जीवनी शक्ति के भांडागार को देखा जा सकता है। शरशैय्या पर पड़े हुए भीष्म ने बहुत समय उपरांत इच्छा मृत्यु का वरण किया। यह मनुष्य की संकल्प-शक्ति ही थी, जिसने कष्टग्रस्त शरीर को भी जीवन धारण किए रहने का आदेश दिया और उसने उसको ठीक तरह निभा दिया। जीवन को धारण किए रहने और सुदृढ़ बनाए रहने में चेतना के साथ लिपटी हुई वह दिव्य क्षमता ही काम करती है, जिसे जीवनी शक्ति अथवा जीवट कहते हैं। वास्तविक बलिष्ठता इसी आंतरिक विशेषता के आधार पर आँकी जाती है अन्यथा इसकी कमी रहने पर शरीर से हट्टे-कट्टे होते हुए भी कितने ही व्यक्ति हर दृष्टि से बहुत ही दुर्बल और कायर देखे जा सकते हैं। पुरुषों की तुलना में यह क्षमता आमतौर से स्त्रियों में अधिक पाई जाती है। इसी के आधार पर वे बार-बार प्रसव कष्ट सहतीं और बच्चों को दूध पिलाते रहने पर भी मौत के मुँह में जाने से बची रहती हैं।

जीवनी शक्ति एक विशेष सामर्थ्य है जो शरीर को जीवित रखने में, जीवन को समर्थ और सरस बनाए रहने में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती है, फिर भी वह रक्त-मांस से उत्पन्न नहीं होती। उसका स्रोत आत्मा की गहन परतों के साथ जुड़ा होता है। वहाँ से उछल कर वह ऊपर आती और शरीर और मन को अपने अनुदान देकर बलिष्ठ बनाती है। कुंडलिनी को जीवन क्षेत्र में प्रखरता, प्रकट करते हुए जब देखा जाता है तब उसे जीवनी शक्ति कहते हैं। कुंडलिनी का एक महत्त्वपूर्ण अंश जीवनी शक्ति के रूप में भी प्राण विद्युत की तरह सामान्य जीवन में अपना परिचय देता देखा जाता है।

कुंडलिनी का तीसरा नाम है-योगाग्नि। यह तपश्चर्या के आधार पर प्रयत्नपूर्वक प्रकट की जाती है। तपाने से हर वस्तु गरम होती है और गर्मी के सहारे उठने और फैलने वाली ऊर्जा के संबंध में विज्ञान

के आरंभिक विद्यार्थियों को भी जानकारी रहती है। व्यायाम से शरीर बल, अध्ययन से बुद्धि बल और व्यवसाय से धन बल बढ़ता है। इसी प्रकार आत्मिक पुरुषार्थ की तपश्चर्या से जो प्रखरता प्रकट होती है, उसे योगाग्नि कहते हैं। आत्मा और परमात्मा का, व्यवहार और आदर्श का, कर्म और विवेक का परस्पर जुड़ना योग कहलाता है। दो शक्ति धाराओं के मिलने से तीसरा अद्‌भुत प्रवाह उत्पन्न होता है। बिजली की ऋण और धन धाराएँ पृथक रहने तक निचेष्ट पड़ी रहती हैं, पर जब वे मिलती हैं तो प्रचंड शक्ति प्रवाह उत्पन्न होता है। व्यवहार एवं आदर्श का समन्वय करने वाले तप प्रयास की ऊर्जा से जो तेजस्विता उत्पन्न होती है उसे योगाग्नि कहते हैं। शाप, वरदान से दूसरों को प्रभावित कर सकना इसी से बन पड़ता है। असामान्य व्यक्तित्व से जुड़ी रहने वाली चमत्कारी सिद्धियों का प्रादुर्भाव-प्रकटीकरण भी इसी उत्पादन से होता है। यह योगाग्नि कुंडलिनी का ही एक रूप है।

अन्तःऊर्जा कुंडलिनी का चौथा नाम है। शरीरगत ऊर्जा पुरुषार्थ के विभिन्न रूपों में देखी जा सकती है। मनोगत ऊर्जा बुद्धि-विवेक की सूझबूझ के, सत्साहस के रूप में प्रकट होती है। इससे आगे की ऊँचाई, गहराई की कक्षा को अंतःऊर्जा अर्थात आत्मबल कहते हैं। आत्मिक अवरोधों के साथ संघर्ष करना और उन्हें परास्त करना आत्मबल के अतिरिक्त और किसी प्रकार संभव नहीं होता। निष्कृष्ट योनियों में रहते-रहते जो कुसंस्कार पशु-प्रवृत्तियों के रूप में चेतना की गहराई तक घुसे रहते हैं, उनके उभार प्रायः विवेक बुद्धि को बुरी तरह उलट देते हैं। आदर्शवादी चिंतन एक कोने में रखा रह जाता है और भीतर से उठने वाले आँधी-तूफान को अपना उपद्रव करने के लिए अवसर मिल जाता है। इन विकृतियों, दुर्बलताओं से जूझने का प्रधान अस्त्र आत्मबल ही होता है। चारों ओर के अवांछनीय प्रवाह प्रायः दुर्बल जीवात्मा को अपनी ओर घसीट ले जाते हैं। उन्हें निरस्त करके आत्मा के संकेतों को सुनना और उन पर चलना

आत्मबल की क्षमता से ही संभव होता है। वायुमंडल की परिधि को, पृथ्वी की आकर्षण क्षमता को चीर कर राकेट अंतरिक्ष में प्रवेश करने के लिए चलते हैं तो उन्हें आरंभ में भारी शक्ति साथ लेकर चलना होता है। उत्कृष्ट जीवन की कल्पना करते और ललचाते रहना तो सरल है, पर उस मार्ग पर चल पड़ने का साहस जुटाना अति कठिन है। लोभ, मोह की आंतरिक दुर्बलताएँ और स्नेही स्वजनों से लेकर चारों ओर फैले हुए अविचारी वातावरण का दबाव, यह दोनों मिलकर आत्मिक प्रगति के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठा सकना असंभव कर देते हैं। इन अवरोधों से आत्मबल ही जूझता है और उसी की प्रचुरता से उत्कृष्ट जीवन की योजना बनाने से लेकर साधन जुटाने तक का सारा सरंजाम जमा करना संभव होता है।

ऊँचे उठने के लिए शक्ति चाहिए, पानी के पंप, वजन उठाने के क्रेन, यही काम करते हैं। बंदूक की गोली से लेकर ऊँची कूद तक के विभिन्न प्रयोजनों में इसी सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है। पतनोन्मुख प्रगति की निम्नगामी प्रवृत्तियाँ तो पानी के निचली दिशा में बहने की तरह स्वयमेव गतिशील बनी रहती हैं, पर यदि उत्कृष्टता की दिशा में बढ़ना हो, अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करने हों तो आत्मबल के बिना कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलेगा नहीं। कुंडलिनी का चौथा नाम अंतःऊर्जा इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए रखा गया है।

कुंडलिनी का पाँचवाँ नाम ब्रह्म-ज्योति है। शरीर, मन और भाव संस्थान के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के आगे आत्मसत्ता और ब्रह्मसत्ता का ही क्षेत्र आत्मा है। आत्मज्योति और ब्रह्मज्योति इसी क्षेत्र की उपलब्धियाँ है। हृदय गुफा में अंगुष्ठ मात्र प्रकाश का वर्णन उपनिषदों एवं साधना शास्त्र के अनेक ग्रंथों में भरा पड़ा है। इसी दिव्यज्योति के दर्शन के लिए कितने ही साधन विधान बताये गये हैं। इसी ज्योति की अधिक स्पष्टता को आत्मदर्शन एवं

आत्मसाक्षात्कार कहा गया है। विज्ञानमय कोश को अंत:करण को-जीवात्मसत्ता का केंद्र स्थल कहा गया है। कुंडलिनी का आभास विज्ञानमय कोश में आत्मज्योति के रूप में होता है।

सहस्रार को ब्रह्मलोक कहा गया है। परब्रह्म का साक्षात्कार करने के स्थान को ब्रह्मरंध्र कहते हैं। इसी रंध्र गुफा में ब्रह्म छिपा रहता है। जब बाहर निकल कर आता है तो उससे ब्रह्म-दर्शन का लाभ मिलता है। यही ब्रह्मज्योति है। वह ध्यान-धारणा में ज्योति रूप में भी प्रकट हो सकती है। इसे प्रतीक दर्शन कहा जाएगा। वस्तुतः ब्रह्मज्योति देखी नहीं अनुभव की जाती है। आत्मा की अनुभूति होती है कि ब्रह्मसत्ता का समावेश आत्मसत्ता में हो चला। उसने अपना स्थान और आविष्कार उपलब्ध कर लिया। ईश्वर की प्रेरणा ही जब क्रिया रूप धारण करती चले तो समझना चाहिए कि ब्रह्मज्योति का प्रभाव जीवनसत्ता के क्षेत्र में बढ़ता चला जा रहा है।

आत्मज्योति आत्म क्षेत्र में दबी हुई विभूतियों को उभारती है और उनके सहारे मनुष्य को दिव्य-देवोपम बनने का अवसर मिलता है। उसे दिव्य जीवन जीते हुए देखा जा सकता है। ब्रह्मज्योति का प्रकटीकरण इससे ऊँची स्थिति है। उसे ब्रह्मवर्चस् के रूप में आत्मसत्ता पर छाया हुआ देखा जा सकता है। ईश्वरीय अनुग्रह एवं अनुदान इसी क्षेत्र में उतरते हैं। ब्रह्म संबंध इसी मिलन बिंदु पर बनता है। आत्मा और परमात्मा के बीच आदान-प्रदान की सुव्यवस्था इसी धरातल पर बनती है। सहस्रार को परमात्मा का निवास माना गया है। कैलाशवासी शिव, शेषशायी विष्णु, कमलासन पर विराजमान ब्रह्मा की स्थिति सहस्रार की ओर ही संकेत करती है। यों ईश्वर का एक अंश तो हर जीवन में विद्यमान है, पर उसके स्तर एवं परिमाण का परिचय ब्रह्मज्योति की अधिकाधिक प्रखरता के आधार पर मिलता है। लेटेन्ट लाइट-डिवाइन लाइट के रूप में पाश्चात्य अध्यात्म विज्ञानी भी इसी प्रकाश की सर्वोपरि गरिमा स्वीकार करते हैं। सविता यही है। ब्रह्म के तेजस्वी स्वरूप को ही सविता कहते हैं।

सविता गायत्री का प्राण है। जागृत कुंडलिनी की मूलाधार स्थिति जीवसत्ता इसी सहस्रार स्थित ब्रह्मसत्ता से मिलने के लिए आतुरतापूर्वक ऊर्ध्वगमन करती है। आत्मज्योति का ब्रह्मज्योति में मिल जाना यही है जीवन लक्ष्य और यही है कुंडलिनी जागरण का अंतिम चरण। इस स्थिति में पहुँचने पर साधक की अंत:स्थिति सविता के समतुल्य बन जाती है। अवतारी महामानव, देवदूत, परमहंस, जीवन मुक्त मनुष्य इसी स्तर के होते हैं। ब्रह्मज्योति की संवेदना को प्रत्यक्ष अनुभव में लाना ही ज्योति दर्शन है। इसी को ईश्वर प्राप्ति भी कहा जा सकता है। कुंडलिनी की दिव्य-चेतना अंतत: इसी स्थिति में जा पहुँचती है। इसी की प्रार्थना 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रार्थना में की गई है।

कुंडलिनी के पाँच नाम-(१) प्राण विद्युत (२) जीवनी-शक्ति (३) योगाग्नि (४) अंत:ऊर्जा (५) ब्रह्मज्योति, आत्मिक प्रखरता के क्रमिक विकास का परिचय देती एवं मार्गदर्शन करती है।

ध्यान करें-यह शरीर महाशक्ति का एक उपकरण है। मूलाधार क्षेत्र में शक्ति बीज, शक्ति सिंधु स्थित है। उस स्थल पर संकल्प के आघात अथवा मांस-पेशियों को कड़ा-ढीला करने से सारे शरीर में जैवीय विद्युत की सिहरन का अनुभव होता है। चित्र-विचित्र चिनगारियों जैसी अनुभूति होती है।



३. (ख) कुंडलिनी ध्यान-धारणा के पाँच चरण

मंथन से दिव्य-ज्योति का प्रकटीकरण-

कुंडलिनी जागरण की ध्यान-धारणा का प्रथम चरण है-मंथन। मंथन से ऊर्जा की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि का तथ्य सर्वविदित है। हाथों को रगड़ते हैं तो हथेलियाँ गर्म हो जाती हैं। दही को मथने से वह गरम होता है और उस बढ़ी हुई गर्मी से पिघल कर घी ऊपर आ जाता है। बिजली का उत्पादन रगड़ से होता है। आकाश में चमकने वाली बिजली भी बादलों की हवा से रगड़ का परिणाम है। अंतजर्गत का मंथन करने से ब्रह्मज्योति प्रकट होती है। प्राणायाम क्रिया में श्वास-प्रश्वास के माध्यम से यह मंथन कर्म ही संपन्न होता है। रक्त के आवागमन को भी मंथन कहा जा सकता है, जिससे शरीर का तापमान स्थिर रहता है और काया का सारा क्रिया-कलाप विधिवत् चलता रहता है।

कुंडलिनी प्राण ऊर्जा मनुष्य को जन्मजात रूप से ही प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है, किंतु वह प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती है। गुप्त सर्पिणी उसे इसीलिए कहा गया है कि वह सर्पिणी के समान तीक्ष्ण होते हुए सोई स्थिति में, सो भी नीचे मुँह किए पड़ी रहती है। नीचा मुख किये रहने से तात्पर्य है-निकृष्ट पथगामी, पतनोन्मुख। प्रायः हमारी शक्ति कामवासना जैसे इंद्रिय छिद्रों में होकर बहती रहती और ऐसे कामों में लगती है जिन्हें आरंभ में आकर्षक किंतु अंत में दुःखद परिणाम उत्पन्न करने वाला कहा जा सकता है। जागृत कुंडलिनी ऊर्ध्वमुखी और ऊर्ध्वगामी होती है, इसका सीधा तात्पर्य इतना ही है कि पतन रुकता और उत्थान आरंभ होता है।

सोते हुए को जगाने के लिए उसे हिलाना, झकझोरना पड़ता है। यह मंथन क्रिया है। रतिकर्म में भी यही होता है। उसकी प्रतिक्रियाएँ, उत्तेजना, सरसता और गर्भ स्थापना के रूप में प्रस्तुत होती हैं।

समुद्र मंथन का सुविस्तृत वर्णन पुराणों में दिया हुआ है। देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र मथा था और उस मंथन कर्म के पुरुषार्थ का प्रतिफल १४ महारत्नों के रूप में प्राप्त किया था। आत्मसत्ता भी एक समुद्र है। इसमें ब्रह्म को देव और प्रकृति को दैत्य कह सकते हैं। दोनों के सम्मिलित पुरुषार्थ का प्रतिफल भौतिक और आत्मिक ऋद्धि-सिद्धि के रूप में सामने आता है। जीवन एक समुद्र है, इसे यदि ऐसे ही पड़ा रहने दिया जाय तो खारी-निरर्थक जलराशि से अधिक उसका कोई मूल्य न होगा, किंतु यदि उसे मथा जाय, उसकी प्रसुप्त-मूर्च्छित विशेषताओं को ऊपर उभारा जाय तो सामान्य परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ, सामान्य साधनों से गुजारा करने वाला मनुष्य भी उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है। ऐतिहासिक महामानवों से लेकर अविज्ञात श्रेष्ठ सत्पुरुषों तक की देवात्माएँ अपने जीवन को धन्य बनाने और असंख्यों को तारने में समर्थ हुई हैं। इसका कारण उनकी शारीरिक, मानसिक विशेषताएँ अथवा भौतिक सुविधाएँ नहीं रहीं, वरन् आंतरिक विशेषताओं के उभार- जागरण ने ही चमत्कार उत्पन्न किए हैं। इसके लिए आत्मशोधन एवं आत्मनिर्माण के उभयपक्षीय प्रबल पुरुषार्थ करने पड़ते हैं। इन दोनों प्रयासों की तुलना मथानी की रस्सी आगे-पीछे ले जाने और दधि मंथन करने की तरह समझी जा सकती है। यही जीवन मंथन है। दूध में छिपे हुए घी को मंथन के द्वारा उभारने की तरह आत्मा की महती विशेषताओं को ऊपर ले आने की चेष्टा, इतनी सुखद परिणाम उत्पन्न करती है, जिसकी तुलना पौराणिक समुद्र मंथन से कम महत्त्वपूर्ण किसी जीवन साधक के लिए सिद्ध नहीं हो सकती।

मानवी काया के सूक्ष्म, स्थूल और कारण शरीरों में अग्नि तत्त्व की प्रखरता संव्याप्त है। शक्ति इसी का नाम है। इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के रूप में उसी के अनेकानेक चमत्कार देखे जाते हैं और उन्हीं के आधार पर व्यक्तित्व का वर्चस्व आँका जाता है। इस अग्नि एवं शक्ति को अस्पर्श्य बनाए रहा जाय तो वह अविज्ञात स्थिति में ही पड़ी रहेगी। उसके अस्तित्व तक का पता नहीं चलेगा, किंतु यदि उसे उभारा जा सके तो फिर उस चिनगारी को गगनचुंबी दावानल के रूप में प्रभाव और प्रकाश का परिचय देते हुए देखा जा सकता है। प्रबल पुरुषार्थ से इस जीवन अग्नि को उभारते हुए असंख्य प्रगतिशीलों को देखा जाता है। साधना भी उच्चकोटि का पुरुषार्थ है। आत्मिक क्षमताओं को प्रबल बनाने में तो इसी का सबसे अधिक उपयोग होता है। कुंडलिनी जागरण के प्रथम चरण में ध्यान धारणा के आधार पर जो मंथन क्रिया संपन्न की जाती है, उससे तीनों शरीरों में छिपी हुई अग्नियाँ-शक्तियाँ उभर कर आती हैं। इसी तथ्य को ध्यान के समय संकल्प-बल से प्रत्यक्ष किया जाता है। फलतः आत्मसत्ता में उभरती हुई अग्नि को, शक्ति को, जीवन व्यवहार के अनेक क्षेत्रों में अपना प्रभाव-परिचय देते हुए भी प्रत्यक्ष देखा जाता है। साधना जैसे-जैसे परिपक्व होती जाती है, प्रखरता को भी उसी अनुपात से बढ़ते हुए देखा जा सकता है। यही अग्नि मंथन, शक्ति मंथन है।

यज्ञ के लिए प्राचीन काल में पवित्र अग्नि अरणि मंथन से ही उत्पन्न की जाती थी। लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से ही यह अग्नि प्रकट होती है। अंत:मंथन को भी अरणि मंथन के समतुल्य गिना जा सकता है। यह प्राण मंथन भी है। शरीर का व्यायाम करने पर उसका तापमान बढ़ते और परिपुष्ट बनते देखा जा सकता है। अंत:शक्ति का, प्राण शक्ति का मंथन-व्यायाम भी साधक को हर दृष्टि से सुयोग्य समर्थ बनाता चला जाता है।

दिव्य सामर्थ्य तो तपश्चर्या करके ही प्राप्त की थी, पर वे उसका दुरुपयोग करने लगे और दुर्गति के गर्त में जा गिरे। योग और तप की शक्ति साधना से आत्मिक सामर्थ्य तो बढ़ती है, पर उसका प्रतिफल अशक्त रहने से भी अधिक कष्टकारक होता है। कुंडलिनी जागरण में इस तथ्य को आरंभ से ही ध्यान में रखा जाता है और जागरण से उत्पन्न प्रवाह को ऊर्ध्वगामी बनाने का प्रयास किया जाता है। यों ज्योति का-ज्वाला का-सहज प्रवाह ऊर्ध्वगामी ही होता है, पर दुर्बुद्धि उसे अधोगामी बनाने में भी नहीं चूकती। इस संदर्भ में पूरी-पूरी सतर्कता रखनी पड़ती है। आत्मजागृति का, आत्मज्योति का भी अध:पतन में उपयोग हो सकता है। तांत्रिक, कापालिक, अघोरी प्राय: ऐसा ही करते भी हैं। असुरता इसी कारण बदनाम हुई अन्यथा शक्ति संचय तो उस वर्ग के लोग भी इसी आधार पर करते हैं। डाकू भी 'साहस' का आध्यात्मिक गुण अपना सकने पर ही अपने क्रूर कर्म में सफल होते हैं।

द्वितीय चरण की ध्यान-धारणा ऊर्ध्वगमन है। ध्यान किया जाता है कि मूलाधार से जागृत हुई कुंडलिनी ज्योति ऊपर उठती है। मेरुदंड मार्ग से आगे बढ़ती है और सुषुम्ना पथ को पार करते हुए सहस्त्रार चक्र से जा मिलती है। इसे महामिलन कहा जाता है। मूलाधार शक्ति को महासर्पिणी और सहस्त्रार आलोक को महासर्प कहा गया है। उन्हें महाकाली और महाकाल भी कहते हैं। इन दोनों के संयोग से पति-पत्नी मिलन की तरह दोनों की अपूर्णता दूर होती है। दो विद्युत धाराओं के मिलने से उत्पन्न शक्ति प्रवाह का परिचय प्रत्यक्ष मिलने लगता है।

जागृत कुंडलिनी की शक्तिधारा को ऊर्ध्वगमन की दिशा देना साधक का काम है। मेरुदंड के भीतर की पोल सुषुम्ना मार्ग से यह ऊपर चढ़ती है और सनसनाती हुई ऊपर उठती और ब्रह्मरंध्र अवस्थित सहस्त्रार में जा मिलती है। इस ऊर्ध्वगमन का परिचय रीढ़ के इर्द-गिर्द खुजली, सरसराहट, फड़कन, रोमांच आदि के रूप में भी

मिलता है। चूंकि कुंडलिनी स्थूल शरीर की नहीं सूक्ष्म शरीर की शक्ति है, इसलिए उसकी गतिविधियों का परिचय भी सूक्ष्म अवगाहन से ही अनुभव में आता है। प्रत्यक्ष शरीर में रीढ़ की सरसराहट जैसी अनुभूति कभी-कभी किसी को कदाचित ही होती है।

अध्यात्म शास्त्र के अलंकारिक प्रतिपादनों में इसी ऊर्ध्वगमन को आत्मा का देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक तक का महाप्रयाण भी कहा है। समझा जाता है कि ऐसा मरण के उपरांत ही होता है । यहाँ इतना और समझा जाना चाहिए कि मरणोत्तर सद्गति की बात सही होने के अतिरिक्त यह भी प्रत्यक्ष तथ्य है कि मेरुदंड मार्ग को देवयान मार्ग भी कहा गया है और उस मार्ग से ऊर्ध्वगमन करने वाली जागृत आत्मचेतना को दिव्यलोकगामिनी कहा गया है। ब्रह्मरंध्र ही ब्रह्मलोक है। सहस्रार पर ब्रह्म विराजमान है। उनमें समीपता को जीवात्मा परमानंद के रूप में, जीवनमुक्ति के रूप में अनुभव करता है। मुक्ति और ईश्वर प्राप्ति एक ही वस्तु है। ईश्वर की समीपता को , मुक्ति को चार प्रकार की माना गया है। (१) सालोक्य (२) सामीप्य (३) सारूप्य (४) सायुज्य। मिलन की यही क्रमिक गतियाँ है। सालोक्य का अर्थ है-ब्रह्मलोक के क्षेत्र में जा पहुँचना। सामीप्य का अर्थ है-दूरी घटना और निकटता बढ़ना। सारुप्य का अर्थ ब्रह्म के समतुल्य, ब्राह्मण, ब्रह्म-परायण बन जाना। सायुज्य का अर्थ है-आत्मसत्ता और ब्रह्मसत्ता के मध्य पूर्ण एकता का अनुभव होना, दोनों का एकाकार हो जाना। ब्रह्मात्मा एवं अवतार, अवधूत इसी स्तर के होते हैं। मरण के उपरांत मिलने वाली मुक्ति अपनी जगह पर सही होते हुए भी जीवन काल की-साधन काल की, जीवन मुक्ति का भी उसी प्रकार रसास्वादन किया जा सकता है जैसा कि कुंडलिनी जागरण ऊर्ध्वगमन ध्यान-धारणा के अंतिम भाग में मिलता है।

मूलाधार स्थित-शरीराभ्यास में गुथी हुई, उसी में रमण करने के लिए लालायित चेतना को भव-बंधनों में जकड़ी हुई कहते हैं। काम,

क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर यही तो छह भव-बंधन हैं। इनका कटना तभी संभव है जब जीवात्मा अपने को, अपने स्वार्थ एवं लक्ष्य को, शरीर से ऊपर उठकर देखना आरंभ करे। जब तक शरीर को ही अपना स्वरूप माना जाता रहेगा और उसके प्रिय-अप्रिय को ही लाभ-हानि समझा जाता रहेगा, तब तक भव-बंधन कटने की कोई संभावना नहीं है। हवाई जहाज पर सफर करने वाले जब धरती पर दृष्टिपात करते हैं तो सभी वस्तुएँ छोटी-छोटी दिखाई पड़ती है। ठीक इसी प्रकार अंत:स्थिति ऊँची उठने पर शरीर के प्रिय विषय-वासना, तृष्णा, अहंता आदि बहुत ही तुच्छ दिखाई पड़ने लगते हैं। तब आकाश अधिक स्पष्ट दीखता और सुरम्य लगता है। कुंडलिनी जागरण के द्वितीय चरण में की जाने वाली ऊर्ध्वगमन की ध्यान-धारणा का सत्परिणाम भी ऐसा ही होता है। उस स्थिति में जीवन-मुक्ति का आनंद मिलने लगता है। यह आनंद मात्र रसास्वादन नहीं होता, वरन् अपने साथ आत्मबल का ऐसा प्रचंड प्रवाह भी जोड़े रहता है कि जिसके सहारे आत्मिक और भौतिक क्षेत्र में ऐसी कुछ उपलब्धि हो सके, जिसे समृद्धियों और विभूतियों के नाम से पुकारा जा सके।

ऊर्ध्वगमन के पयार्यवाची शब्द है-उत्थान, उत्कर्ष, अभ्युदय। इनसे उस स्तर के लोगों की स्थिति का आभास मिलता है। भौतिक बड़प्पन तो साधन संपन्नता के आधार पर निकृष्ट कोटि के व्यक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं, पर आत्मिक महानता प्राप्त करने के लिए तो गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता का संपादन ही एकमात्र उपाय है। कुंडलिनी उत्थान से इसी आंतरिक उत्कर्ष की प्रेरणा मिलती है और अभ्युदय का वह आधार बनता है जिसे मानव जीवन का सर्वोपरि सौभाग्य कहा जा सके।

कुंडलिनी जागरण के प्रथम चरण में मंथन प्रक्रिया होती है। इसे प्रबल पुरुषार्थ की उमंगों का उठना कह सकते हैं, इसमें कुसंस्कारों को निरस्त करने और सदाशयता को बढ़ाने के लिए अदम्य साहस उमड़ता है। प्रसुप्ति को जागृति में बदलने का यही एकमात्र उपाय

है। इस जागरण को-शक्ति उद्भव को ऊर्ध्वगामी बनाना आत्मिक प्रगति का दूसरा चरण है। दिशा धारा न मिलने से ही भटकाव की स्थिति उत्पन्न होती है। दुरुपयोग होने पर तो उससे उलटा विनाश होने लगता है। अस्तु सद्शक्ति का उत्पादन होते ही उसका उपयोग उत्कृष्टता की दिशा में नियोजित किया जाता है। यही भौतिक प्रगति का आधार है और इसी मार्ग का अवलम्बन करने से आत्मिक प्रगति संभव होती है। अध:पतन बंद करने से उत्थान की संभावना बढ़ती है। पेंदे में से टपकने वाले पानी को जब छिद्र बंद करके रोक दिया जाता है तो घड़े को भरने की बात बनती है। कुंडलिनी जागरण से विकसित होने वाली आत्मसत्ता भी इसी मार्ग से समुन्नत बनती है।

ध्यान करें-सविता शक्ति जागृत कुंडलिनी शक्ति को दबाव देकर सूक्ष्म प्रवाहों के माध्यम से, मेरुदंड के मध्य से ऊपर की ओर प्रवाहित होने को बाध्य कर रही है, सविता शक्ति की लहर पर लहर उसी दिशा में चलती है और उसके साथ-साथ शरीरस्थ जीवनी-शक्ति क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ती-चढ़ती जा रही है।



३. (घ) चक्र शृंखला का वेधन-जागरण

काय-कलेवर में तो असंख्य शक्ति संस्थान हैं। प्रसुप्त स्थिति में वे मृतवत् पड़े रहते हैं, पर जब वे जागृत होते हैं तो अपना पराक्रम क्रुद्धसिंह की तरह दिखाने लगते हैं। देव वरदान या सिद्धि चमत्कार के नाम से जानी जाने वाली विभूतियों के संबंध में समझा जाता है कि वे किसी बाहरी सत्ता के अनुग्रह का प्रतिफल हैं और वे सौभाग्य की तरह कहीं से अनुनय, विनय के आधार पर मिलती हैं। पर वस्तुतः ऐसा होता नहीं। वे अपने ही अंतर्जगत की प्रखरता के साथ प्रकट होने वाली उपलब्धियाँ भर होती हैं। आत्मजागरण और ईश्वरीय-अनुग्रह को अविच्छिन्न समझा जा सकता है।

साधना द्वारा जिन शक्ति संस्थानों को जगाया जा सकता है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में जिनका चमत्कार देखा जा सकता है, उनकी संख्या अगणित है, पर इनमें छह प्रमुख हैं। इन्हें षटचक्र कहते हैं। मूलाधार मेरुदंड के सबसे नीचे के भाग में है और सहस्रार सबसे ऊपर वाले छोर पर है। इनके मध्य में स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और विशुद्धि चक्र हैं। इस प्रकार मेरुदंड मार्ग में छह की संख्या पूरी हो जाती है। यहाँ एक शास्त्रीय विकल्प-मतभेद चला आता है। आज्ञा चक्र को षटचक्रों में सम्मिलित किया जाय तो सहस्रार को केंद्रीयसत्ता ठहराना पड़ेगा। यदि सहस्रार को षटचक्रों में गिनते हैं तो आज्ञाचक्र को झरोखा, खिड़की, सर्चलाइट नाम देकर उसकी गणना अलग से करनी पड़ेगी। आज्ञाचक्र और सहस्रार दोनों

को ही शक्ति चक्रों की शृंखला में गिन लिया जाय तो उनकी संख्या सात होती है। यह छह और सात का झंझट है। वस्तुतः यह सभी चक्र दिव्य–शक्तियों के अत्यंत प्रभावोत्पादक संस्थान है। इनमें से न किसी का महत्त्व कम है और न प्रगति के पथ पर अग्रगामी आत्मचेतना इनमें से किसी की उपेक्षा कर सकती है। हमें दोनों ही गणनाओं को मान्यता देनी चाहिए, किंतु लाभांवित सातों से होना चाहिए।

पुराणों में षटचक्रों को शंकर जी (शिव) एवं पार्वती (शक्ति) के पुत्र षट्मुखी कार्तिकेय के रूप में चित्रित किया गया है। उन्हें अग्नि ने अपने गर्भ में रखा और छह कृतिकाओं ने पालन किया था। ठंड होते ही उन्होंने दैत्यों को निरस्त किया है और देव शक्तियों को स्वर्गीय क्षेत्र का आधिपत्य वापिस दिलाने में भारी योगदान दिया। इस कथानक का विस्तृत वर्णन पुराणकारों ने जिस ढंग से किया है उससे स्पष्ट है कि यह मेरुदंड स्थित षटचक्रों के स्वरूप, रहस्य एवं प्रतिफल का ही कथापरक चित्रण है।

सात की गणना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सप्तद्वीप, सप्त समुद्र, सप्तलोक, सप्तऋषि, सूर्य रथ के सप्त अश्व आदि के स्वरूप एवं महत्त्व को यदि ठीक तरह पढ़ा जाय तो उन उपाख्यानों में सप्त चक्रों में सन्निहित क्षमता एवं जागरण की प्रतिक्रिया का सहज ही परिचय मिलता है। काया को यों 'पिंड' कहते हैं, पर यदि उसकी दिव्य क्षमता के विस्तार पर दृष्टि डाली जाय तो वह एक पूरा ब्रह्मांड ही कहा जा सकता है।

यह चक्र मेरुदंड मार्ग में अवस्थित है। आज्ञाचक्र यों भ्रूमध्य भाग में माना जाता है, पर वस्तुतः वह भी इस स्थान की सीध में थोड़ी गहराई में अवस्थित है। सहस्रार को सूर्य माना जाय तो आज्ञा चक्र को उसका उपग्रह चंद्रमा कहा जा सकता है। दोनों परस्पर अति घनिष्टता से संबद्ध हैं और अति समीप भी हैं। अस्तु दोनों को ही मेरुदंड के उच्च भाग से संबंधित मान लिया जाय और सातों को मेरुदंड से संबंधित मान लिया जाय तो इसमें किसी प्रकार की

अड़चन नहीं है। इतने पर भी जब चक्रों के जागरण का प्रश्न आता है तो उनकी संख्या छह ही मानी जाती है। सातवाँ सहस्रार जागरण का केंद्र और ब्रह्म का प्रत्यक्ष प्रतीक मान लिया जाता है। जागरण के लिए तो षटचक्रों पर ही जोर दिया जाता है।

मूलाधार से जब कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है तो वह ऊपर उठती है। गर्मी पाकर हवा ऊपर को ही उठती है। बादल बनने और चक्रवात उठने की क्रिया में यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि गर्मी का एक कार्य संबंधित वस्तुओं को ऊपर उठाना भी है। शक्ति जागरण का ऊर्ध्वगामी हो जाना सहज सुलभ नहीं है। इसके मार्ग में अवरोध भी हैं, जिनसे निपटना पड़ता है। इन्हें लंबी यात्रा के मार्ग में पड़ने वाले मील के पत्थर या विश्राम-गृह या उपाहार गृह भी कह सकते हैं। चक्र-जागरण को चक्र-वेधन भी कहते हैं। जिस प्रकार बिखरे फूलों को-बिखरे मोतियों को वेध कर एक सूत्र में पिरोया जाता है और उनकी माला बनती है, उसी प्रकार इस चक्र-वेधन प्रक्रिया को भी समझा जा सकता है। बिखराव को संघबद्धता में परिणत कर देने पर जो प्रतिफल उत्पन्न होता है, वही चक्र-वेधन प्रक्रिया का भी होता है।

भूमि का वेधन करके गहराई में उतरते जाने पर ही जल स्रोत, धातुएँ, खनिज पदार्थ, तेल आदि की उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं। काय-कलेवर भी एक प्रकार से भू-लोक ही है। उनमें जो संपदाएँ दबी हैं, उनमें कुछ परम उपयोगी षटचक्रों के रूप में जानी जाती हैं। घर वालों को सोते हुए देखकर चोर घर में घुसते, घात लगाते और हानि पहुँचाते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रसुप्त चक्रों की निस्तब्धता देखकर षटरिपु, दुर्दांत दस्युओं की तरह भीतर घुस पड़ते हैं। आंतरिक षटरिपुओं को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर कहा गया है। बाहरी शत्रु तो बाहरी हानि ही पहुँचा सकते हैं, पर ये आंतरिक शत्रु तो सारे अंत:क्षेत्र को ही खोखला करते और भविष्य को अंधकारमय बनाते हैं। जैसे-जैसे जागृति आती है, वैसे-वैसे इन शत्रुओं का

पलायन होने लगता है। प्रकाश का प्रभात उगते ही निशाचर अपनी-अपनी कोतरों में जा छिपते हैं। हिंस्र पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, चोर आदि प्रायः रात में ही घात लगाते हैं और दिन निकलते ही अपनी हरकतें बंद कर देते हैं। आंतरिक षट्रिपुओं के बारे में भी यही बात है। पशु-प्रवृत्तियों का निराकरण न हो सकने के कारण आत्मिक प्रगति प्रायः रुकी ही पड़ी रहती है। कुंडलिनी जागरण के तृतीय चरण में षटचक्रों के शोधन, वेधन, जागरण प्रक्रिया के साथ-साथ यह अवरोधों के निवारण का उद्देश्य भी पूरा होने लगता है।

भगवान राम ने बालि वध की सामर्थ्य का परिचय देने के लिए सुग्रीव को सात ताड़ों का वेधन एक ही वाण में करके दिखाया था। चक्रवेधन को उसी के समतुल्य आत्मिक पराक्रम कहा जा सकता है। यह कुंभकरण को जगाने के सदृश है। विष्णु भगवान शेषशैय्या पर प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहते हैं, पर वे जागृत किए जा सकें तो समय-समय पर अवतार लीलाओं का पराक्रम देखते हैं। आत्मसत्ता भी प्रसुप्त पड़ी हुई उपहास्यापद बनी रहती है, पर यदि उसे कुंडलिनी जागरण जैसे साधना प्रयोगों द्वारा जागृत किया जा सके तो उसकी दिव्य सक्रियता देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ेगा।

चक्र जागरण को समग्र आत्म-जागृति का खंड प्रयास कह सकते हैं। लंबी यात्रा एक बारगी नहीं हो सकती, उसके बीच-बीच में विराम लेने होते हैं। रेलगाड़ी स्टेशनों पर रुकती हुई गंतव्य स्थान तक पहुँचती है। चक्रों को ऐसे ही विराम केंद्र कहा जा सकता है, जहाँ पिछले श्रम की थकान मिटाने और अगली यात्रा के लिए सामर्थ्य प्राप्त करने की सुविधा मिलती है। इस प्रयास में जो लाभ मिलने चाहिए वे भी प्राप्त होते चलने से स्कूली छात्रों को इनाम , उपहार देकर अधिक उत्साह से पढ़ने की प्रेरणा मिलने जैसा प्रसंग भी बन जाता है। चक्रों का जिस अनुपात से जागरण होता है,उसी क्रम से वे आत्मिक विभूतियाँ उभरती चली आती है, जिन्हें ऋद्धि-सिद्धियों के नाम से जाना जाता है।

चक्रवेध के समतुल्य और भी कई शब्द है, जैसे-लक्ष्य-वेध, शब्द-वेध, चक्रव्यूह-वेध। इन वेधन कर्मों में कई महत्त्वपूर्ण सफलताएँ छिपी हुई हैं। लक्ष्य-वेध निशाना मारने को कहते हैं। युद्ध जीतने में, शत्रु को परास्त करने में, सही निशाना लगने का बहुत महत्त्व है। योजना बनाते समय लक्ष्य निर्धारित किया जाता है और उसकी प्राप्ति के लिए तत्परतापूर्वक प्रयत्न में जुटा जाता है। जीवन का लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति है। इसी प्रकार अन्य अनेक उद्देश्य हो सकते हैं, जिन्हें लक्ष्य कहा जाय। लक्ष्य-वेध से, लक्ष्य-प्राप्ति से जो प्रसन्नता एवं सफलता मिलती है, उसके लाभ तथा आनंद को सभी जानते हैं।

शब्दवेधी वाण की चर्चा सुनी जाती है। प्रभावशाली शब्दों से अंतरवेध डालने वाली बात से भी सभी परिचित हैं। नादयोग-शब्द योग है। शब्द ब्रह्म भी उसे कहते हैं। उसका वेधन ईश्वर प्राप्ति का ही एक प्रकार है। षटचक्रों के वेध को-चक्रवेध की-ऐसे ही शब्द वेध की उपमा दी जा सकती है।

चक्रव्यूह युद्ध कला की एक संरचना है। जिसमें प्रतिद्वंद्वी की घेराबंदी की जाती है। जंगली हाथियों को पकड़ने के लिए उन्हें चारों ओर से घेर कर एक छोटे घेरे में लाया और बंदी बनाया जाता है। शिकारियों को यही नीति अपनाते देखा गया है। वे सिंह, व्याघ्र आदि को चारों ओर से हंगामा मचा कर एक घेरे में समेटते लाते हैं और फिर उन्हें गोली का निशाना बनाते हैं। चक्रव्यूह एक युद्ध कला भी है। महाभारत में अभिमन्यु ऐसे ही व्यूह में फँसा था। इसी घेराबंदी को भव-बंधन कहते हैं। पराधीनता यही है। इसी से छुटकारा पाने को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। दुष्प्रवृत्तियों और दुर्भावनाओं की घेराबंदी में फँसा हुआ प्राणी जाल में फँसे पक्षी की तरह तड़पते हुए प्राण गँवाता है। बहेलिया मृग को जाल में फँसाता है, मछुए आटे की गोली का लोभ देकर मछली को काँटे से वेधते हैं, ऐसी ही दुर्गति असुरता के बधिक द्वारा जाल में फँसाये जीवात्मा की होती है। इन

चक्रव्यूहों से बच निकलने का जिसे अवसर मिले उसे सौभाग्यशाली गिना जायगा। कुंडलिनी जागरण की चक्रवेध प्रक्रिया को चक्रव्यूह वेधन के समतुल्य माना जाय तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

कुंडलिनी जागरण की ध्यान-धारणा के तीसरे चरण में षटचक्रों का वेधन आता है। इस संदर्भ में यह भाव चित्र स्पष्ट किया जाता है कि मूलाधार केंद्र में मंथन प्रक्रिया के कारण प्राण ऊर्जा जागृत होती और ऊपर उठती है। मेरुदंड मार्ग में होती हुई वही सहस्रार तक पहुँचती है। इस मार्ग के मध्यवर्ती मोर्चों को उसे जीतना पड़ता है। विराम स्थलों पर ठहरना पड़ता है और उपहार जीतने की प्रतिस्पर्धा में भाग लेना पड़ता है। बिखरे मोती समेटने और एक सूत्र में पिरोकर माला के रूप परिणत करने होते हैं। यही सब चक्रवेध की प्रक्रिया है। जिस प्रकार बरमा लकड़ी को, धरती को छेदते हुए आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मूलाधार की जागृत प्राण शक्ति-कुंडलिनी सुषुम्ना मार्ग की इस चक्र शृंखला को अपनी प्रचंड क्षमता से वेधन करती हुई लक्ष्य प्राप्ति के लिए आगे बढ़ती है। इस ध्यान में संकल्प एवं विश्वास का गहरा पुट रहने से यह कल्पना करने जैसी तुच्छ दीखने वाली बात वस्तुतः प्रचंड सामर्थ्य सिद्ध होती है और वेधन के साथ जुड़े हुए समस्त उद्‌देश्यों की पूर्ति करती है।

ध्यान करें-मेरुदंड में सुषुम्ना एक प्रकाशवान नली ट्यूब की तरह। उसमें विशिष्ट शक्ति केंद्र नीचे मूलाधार, पेड़ू की सीध में-स्वाधिष्ठान, नाभि की सीध में-मणिपूर, हृदय की सीध में-अनाहत, कंठ की सीध में-विशुद्धि, भ्रू-मध्य की सीध में-आज्ञाचक्र एवं सबसे ऊपर सहस्रार चक्र। ध्यान क्रमशः तेज ग्रंथियों के रूप में करें। मूलाधार से योगाग्नि के ज्योति कण गोली की तरह छूटते हैं तथा उन चक्रों से टक्कर मारते हैं। चक्रों के शक्ति केंद्रों में हलचल एवं जागरण स्फुरण की अनुभूति होती है, उनसे शक्ति प्रवाह फूट पड़ते हैं। □

३. (ङ, ई) आत्मीयता का विस्तार आत्मिक प्रगति का आधार

कुंडलिनी जागरण की ध्यान-धारणा का चौथा चरण है-विस्तरण अर्थात सीमित को असीम बनाना। संकीर्ण स्वार्थपरता में जकड़ा हुआ जीवात्मा महत्त्वपूर्ण प्रगति एवं उपलब्धि से वंचित ही बना रहता है। भ्रमवश लगता भर ऐसा है कि स्वार्थी मनुष्य लाभ में रहता है। अपने ही लाभ के गोरखधंधे में लगा रहने के कारण सुसंपन्न बन जाता होगा। परमार्थ में व्यय न होने के कारण उसके पास प्रचुर संपन्नता जमा हो जाती होगी। आरंभ में कुछ-कुछ लगता भी ऐसा ही है, किंतु अंततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि संकीर्ण स्वार्थपरता में जो लाभ सोचा गया था, वह सही नहीं निकला। उलटे इस भ्रम जंजाल में अपने पैरों कुल्हाड़ी मारी गई, भारी हानि उठाई गई।

संकीर्ण स्वार्थपरता ही-उद्धत विलासिता, आतुर तृष्णा और उद्दंड अहंता के रूप में पिशाच नृत्य करती है और दुष्ट चिंतन में क्रूर-कर्मों में उलझाए रह कर शोक-संतापों के गर्त में धकेल देती है। स्वार्थी का उपार्जन दुर्व्यसनों में नष्ट होता है अथवा उत्तराधिकारी उस हराम की कमाई को फुलझड़ी की तरह जलाते हैं। ऐसा व्यक्ति जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के लिए परमार्थ-पुरुषार्थ कर सकने का साहस जुटा ही नहीं पाता। किसी प्रकार सस्ती बाल-क्रीड़ा जैसे पूजा-पाठों का आश्रय लेकर उन स्वप्नों को देखता रहता है, जो उदात्त जीवन नीति अपनाने वालों के लिए प्रत्यक्ष हो सकते हैं।

आत्मिक प्रगति का सीधा अर्थ है–आत्म विस्तार, अपनेपन की सीमा को अधिकाधिक व्यापक विस्तृत बनाना। सब हमारे–हम सबके की मान्यता ही वसुधैव कुटुम्बकम् के रूप में परिणत और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' बनकर विकसित होती है। संकीर्ण मनुष्य नर है और उदात्त बनने पर यही नारायण बन जाता है। पुरुष को पुरुषोत्तम, अणु को विभु, तुच्छ को महान, जीव को ब्रह्म बनने का अवसर आत्म विस्तार का उदात्त दृष्टिकोण अपनाने से ही प्राप्त होता है। संसार के समस्त महामानवों को अनिवार्य रूप से अपने जीवन में उदात्त परमार्थ वृत्ति का समावेश करना पड़ा है। साधु और ब्राह्मण जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। भगवत् भक्तों को सादा जीवन उच्च विचार की आधार शिला पर खड़े होकर सच्ची ईश्वरपरायणता का प्रमाण देना पड़ता है। जिसे कृपणता, संकीर्णता और स्वार्थपरता ने घेर रखा हो, समझना चाहिए कि उसकी आस्तिकता, आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता कोई विडंबना है। आत्मिक प्रगति का परिचय तो अपनेपन का अधिकाधिक विस्तार करते चलने से ही मिलता है। यज्ञीय जीवन इसी को कहते हैं। परमार्थ और यज्ञ एक ही तथ्य के दो नाम हैं–जीवन को यज्ञमय बनाने पर ही नर कलेवर में नारायण का प्रकटीकरण होता है।

कुंडलिनी ध्यान–धारणा का चौथा चरण इस विस्तरण प्रक्रिया को अपनाने से ही संपन्न होता है। भावना की जाती है कि मूलाधार शक्ति की चिनगारी सीमित क्षेत्र में अवरुद्ध नहीं रही, वरन् व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करने वाली दावानल का रूप धारण कर रही है। ज्योति ने छोटी बत्ती में सीमित न रहकर प्रचंड ज्वाला की तरह अपना क्षेत्र विस्तृत बनाने का निश्चय कर लिया। कुंडलिनी मूलाधार में विकसित होकर समग्र आत्मसत्ता पर आच्छादित हुई और काय–कलेवर का समूचा क्षेत्र अपनी परिधि में, पकड़ में ले लिया। कुंडलिनी मूलाधार में अवरुद्ध नहीं रही, वरन समूचे जीवन लिया। जो चिंतन एवं कर्म मात्र शरीर तथा उसके साथ जुड़े हुए

कुछ परिवारों के लिए नियोजित रहता था, उसने अपनी आत्मीयता बढ़ा ली और असंख्य के साथ अपनापन जोड़कर परमार्थ में स्वार्थ सधने की मान्यता अपना ली।

यह कोई स्वप्न या कल्पना या मनोरंजन नहीं, वरन् ऐसा तथ्य है जो व्यवहार में उतरता ही चला जाना चाहिए। इस धारणा के समय ये भावनाएँ उभरती रहनी चाहिए कि संकुचित चिनगारी अब सुविस्तृत दावानल बनने जा रही है और ज्योति ज्वाला बनकर रहेगी शरीर और परिवार का स्वार्थ ही भूत की तरह सिर पर छाया न रहेगा। वरन् उनमें देव प्रयोजनों की पूर्ति का साहस भी उभरेगा।

पेट और प्रजनन भर से अब संतोष न किया सकेगा, वरन् उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता का अभिवर्धन करने वाली गतिविधियों को भी जीवन नीति में सम्मिलित करना पड़ेगा। देश, धर्म, समाज और संस्कृति का भी उसी प्रकार ध्यान रखना पड़ेगा जैसा कि शरीर और परिवार के हित साधन का रखा जाता है। यह चिंतन अधिकाधिक स्पष्टतापूर्वक मस्तिष्क को प्रभावित करने लगे और व्यवहार में उसी प्रकार के प्रयासों में तत्परता दृष्टिगोचर होने लगे तो समझना चाहिए कि विस्तरण की ध्यान-धारणा का अभीष्ट उद्देश्य पूरा हो रहा है।

ध्यान करें—मूलाधार स्थित सामान्य स्फुर्लिंग प्रचंड ज्वाला के रूप में बढ़ गए। सभी चक्रों से प्रकाश धाराएँ विकसित होकर चारों ओर फैल रही हैं। मेरुदंड जलती हुई ट्यूब लाइट की तरह प्रकाश से भरा हुआ है। सारे शरीर संस्थान में दिव्य संवेदनाओं की सिहरन उठती है, अंदर असीम शक्ति का अनुभव, आत्मीयता, प्रेम, करुणा आदि विस्तृत होकर सारे विश्व को अपनी गोद में समेटे ले रही है-ऐसा बोध।



३. (च) अंतिम चरण-परिवर्तन

साधना सफल हो रही है या असफल? इस प्रश्न का उत्तर एक ही आधार पर दिया जा रहा है कि नर–पशु जैसी स्थिति का परिष्कार नर–नारायण बनने की दिशा में हो रहा है या नहीं। यदि चिंतन पशु–प्रवृत्तियों में ही उलझा रहता हो। लोभ और मोह के अतिरिक्त और किसी में रुचि न हो, पेट और प्रजनन के अतिरिक्त और कुछ कर्त्तव्य सूझता ही न हो, वासना और तृष्णा की खुमारी हलकी न पड़ रही हो तो समझना चाहिए कि आत्मसाधना के सारे प्रयास कल्पना एवं बाल–क्रीड़ा बनकर मात्र मनोविनोद का प्रयोजन पूरा कर रहे हैं। उनका वास्तविक सत्परिणाम उत्पन्न नहीं हो रहा है। ईश्वरीय अनुग्रह और दैवी अनुदानों का आरंभ होने जा रहा है या नहीं? इसकी परख इसी कसौटी पर हो सकती है कि चिंतन और कर्म में उत्कृष्टता का समावेश हुआ या नहीं। स्पष्ट है कि पशु प्रवृत्तियों में जकड़ा हुआ कोई मनुष्य आज तक कभी भी आत्मकल्याण का, ईश्वरीय अनुग्रह का अनुदान प्राप्त कर सकने में सफल नहीं हुआ। भले ही वह पूजा–पाठ के कितने ही उपचार रचता और बदलता रहता हो। सोने के खरेपन की परख उसे आग में तपाने और कसौटी पर कसने से होती है। ठीक उसी प्रकार साधना मार्ग पर चलते हुए आत्मपरिष्कार की प्रगति का स्तर इस आधार पर आँका जाता है कि साधक ने अपने दृष्टिकोण एवं क्रिया–कलाप में उत्कृष्टता का कितना समावेश किया, पशु प्रवृत्तियों का देव वृत्तियों में परिवर्तन कितने परिमाण में संभव हो सका ?

गीता में आत्म–मार्ग के पथिकों की गतिविधियाँ, भव–बंधनों में जकड़े हुए मायाग्रस्त सामान्य नर–वानरों से भिन्न प्रकार की

बताई हैं। अलंकारिक रूप से कहा है कि जब संसारी सोते हैं तब योगी जगते हैं। जब योगी जगते हैं तब संसारी सोते हैं। इस पहेली का अर्थ यह है कि मोहांध संसारियों से विवेकवान आत्मवानों का दृष्टिकोण, लक्ष्य, स्वभाव एवं प्रयत्न भिन्न प्रकार का प्रायः विपरीत स्तर का होता है। जिन बातों को संसारी प्राण-प्रिय मानते हैं और उनके लिए जीवन संपदा निछावर कर देते हैं, इनमें आत्मवानों को न तो रुचि होती है और न रस। वे उस ओर से उदासीन रहते हैं और महानुभावों के द्वारा अपनाए गए उस मार्ग पर साहसपूर्वक चलते हैं, जिसे चतुर लोगों की दृष्टि में 'मूर्खता' ही समझा जा सकता है। ऐसी दशा में स्पष्ट है कि साधक के जीवन-क्रम में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ दृष्टिगोचर होने लगा। सामान्य व्यक्ति अपनी तुलना में उसे असाधारण रूप में भिन्न एवं बदला हुआ देखे तो यह स्वाभाविक ही है।

कुंडलिनी आत्मशक्ति है। जब वह प्रखर होती है तो उन आंतरिक दुर्बलताओं को निरस्त होना पड़ता है, जो आदर्श जीवन के मार्ग पर बढ़ चलने से रोकने वाली सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। आकर्षणों का लोभ और तथाकथित 'मित्रों' का दबाव यही दो कारण हैं-जिनमें उत्कृष्टता के देव मार्ग पर चलने वाली आंतरिक उमंगों में पग-पग पर पद-दलित होना पड़ता है। इच्छा और सुविधा रहते हुए भी मनुष्य कुछ कर नहीं पाता और पेट-प्रजनन के पशुलोक में किसी प्रकार जीवन का भार ढोते हुए, पाप का भार और भी अधिक बढ़ाते हुए, अंधकार भरे भविष्य की दिशा में संसार से कूच करता है। इसी प्रवाह में जन-जीवन बहता रहता है। उसे चीरकर उलटे चलने की मछली जैसी क्षमता जिनमें उग सके, समझना चाहिए आत्मबल जगा और कुंडलिनी जागरण का चिह्न प्रकट हुआ। बढ़ी हुई आत्मशक्ति कितने ही चमत्कार दिखाती है। इनमें सबसे पहला यह होता है कि अपने आंतरिक दुस्साहस के बलबूते 'अकेला चलो रे' का मंत्र जपते हुए आत्मा श्रेय पथ

पर एकाकी चल पड़ता है। अपने निश्चय के लिए भगवान के संकेत के अतिरिक्त और किसी के परामर्श एवं सहयोग की जरूरत नहीं पड़ती। आवश्यक ही हुआ तो देव परंपरा के महामानवों की साहसिक साक्षियाँ, उक्तियाँ, स्मृतियाँ इस प्रयोजन के लिए पर्याप्त मात्रा में सहज ही मिल जाती हैं। इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ इसकी साक्षी देने के लिए प्रस्तुत हैं। उनमें साहसिक प्रेरणा देने वाले तत्त्व प्रचुर परिमाण में कभी भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

श्रेष्ठता की कल्पना करते रहना और निष्कृष्टता के मार्ग पर चलते रहना, यही है आत्मिक दुर्बलता का सबसे बड़ा प्रमाण। कुंडलिनी जागरण की आंतरिक प्रखरता इस विडंबना को लात मार कर भगा देती है और शूरवीरों जैसे दूरदर्शी निर्णय और साहस भरे संकल्प लेकर सामने आती है। इतनी सामग्री जहाँ जुट सकेगी वहाँ नरक की कीचड़ में सड़ते रहने की विवशता का और कोई बाहरी कारण बाधक न रह जाएगा। इस जागरण की प्रतिक्रिया ऐसे परिवर्तन के रूप में सामने आती है जिसे 'कायाकल्प' कहा जा सके। बूढ़े शरीर को औषधियों के सहारे युवा बनाने के प्रयत्नों को कायाकल्प कहा जाता है। उसमें तो कोई कहने लायक सफलता अभी तक नहीं मिली है, पर आंतरिक कायाकल्प के उपचार से थके-हारे बूढ़े मन, नवयुवकों जैसी अभिनव उमंगों से भरे-पूरे निश्चय ही बन सकते हैं। लिप्साओं और ललकों में जकड़ा, लोभ और मोह द्वारा पकड़ा, निरीह दयनीय जीव जब आत्मगौरव को समझने लगता है और आत्मावलंबन के सहारे आत्मनिर्माण के लिए तन कर खड़ा होता है तो जीवन धारा को आदर्शवादिता की दिशा में जोड़ देने के रूप में ही इसे कायाकल्प की संज्ञा दी जा सकती है। यह परिवर्तन आत्मबल की प्रचुरता के बिना संभव हो ही नहीं सकता। कुंडलिनी जागरण की सूक्ष्म प्रक्रिया को स्थूल परिचय के रूप में जानना हो तो उसे परखा जाना चाहिए। दृष्टिकोण, लक्ष्य, रुझान एवं क्रिया-कलाप का यह उच्चस्तरीय परिवर्तन ही कुंडलिनी जागरण का अंतिम चरण

है। ध्यान-धारणा में इसी आस्था को परिपक्व किया जाता है। सर्वतोमुखी परिवर्तन के उज्ज्वल भविष्य का स्वर्णिम भाव चित्र अंत:लोक में विनिर्मित किया जाता है ताकि उसी प्रकार का प्रत्यक्ष परिवर्तन भी संभव हो सके।

मूलाधार शक्ति का सहस्रार में जा मिलना, परिवर्तित होना यह बताता है कि काम-बीज, ज्ञान-बीज के रूप में परिवर्तित हो रहा है। क्षुद्र प्राणी कामनाओं के, कामुकता के, कल्पना रस में ललचाते रहते हैं और बेतरह चासनी पर टूट पड़ने वाली मक्खी की तरह फँसते और दुर्गति भुगतते हैं। आटे की गोली के लोभ में जान गँवाने वाली मछली की तरह इन कामग्रस्तों की दुर्दशा होती है। आत्मजागृति में विवेक के नेत्र खुलते हैं और परिणाम की प्रतिक्रिया सूझ पड़ती है। ऐसी दशा में रस का केंद्र काम बिंदु न रहकर ज्ञान बिंदु बन जाता है। सद्ज्ञान के अवगाहन में उससे कहीं अधिक उच्चस्तरीय आनंद आता है जैसा कि लोलुपों को कामनाओं में डूबते-तिरते हुए कुछ-कुछ अनुभव होता है। भावी जीवन की सुनिश्चित रूपरेखा विवेकशीलता के आधार पर बनाना और उस पर बिना लड़खड़ाए आजीवन चलते रहने का संकल्प करना, इसी मनोभूमि में बन पड़ता है। कुंडलिनी जितने अंशों में जागृत होती है, उतने ही अनुपात से यह सर्वतोमुखी परिवर्तन की प्रक्रिया प्रखर होती है। तब सद्ज्ञान ही भावी यात्रा का एक मात्र मार्गदर्शक होता है। यह महान परिवर्तन सबको अपने में दीखता है। हर कोई इस परिवर्तन को अनुभव करता है इतना ही नहीं अपने को भी शरीर, संसार, संपर्क के साधन, संबंधित प्राणी प्रायः बदले हुए ही दीखते हैं। मोह नेत्रों के स्थान पर उगे दिव्य चक्षु लगते हैं तो संसार का स्वरूप पहले जैसा न रहकर सर्वथा भिन्न एवं विचित्र प्रकार का लगता है। इसी विराट् विश्व में परब्रह्म की झाँकी अहर्निश होने लगती है।

क्षुद्रता का महानता में परिवर्तन, कामना का भावना में परिवर्तन,

नर का नारायण में परिवर्तन जैसे महान परिवर्तनों का अंत:क्षेत्र में होना सच्चे अर्थों में आत्मिक कायाकल्प है। इसी को तमसाछन्न की सत्त्व संपदा में, नरक की स्वर्ग में, बंधनों की मुक्ति में परिणति भी कह सकते हैं। आत्मा का परमात्म स्वरूप में, अपूर्णता का पूर्णता में परिवर्तन होना, यही वह जीवन-लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए यह सुरदुर्लभ मानव जन्म प्राप्त हुआ है। कुंडलिनी जागरण की ध्यान-धारणा का अंतिम चरण-परिवर्तन, इसी स्थिति को प्राप्त करने की आतुरता, उत्कंठा उत्पन्न करता है। चाह की उत्कृष्टता स्वयमेव राह बनाती और लक्ष्य तक पहुँचने का साधन जुटाती है।

ध्यान करें-शक्ति क्षेत्र मूलाधार की तरंगों का, शिव क्षेत्र सहस्त्रार में विलय हो रहा है। शक्ति शिव एक हो गए हैं। शरीर संस्थान पर दिव्यसत्ता के आधिपत्य का बोध। ब्रह्मज्योति में तप कर आत्मसत्ता, कामना, वासना आदि कलुषों से मुक्त होकर ब्रह्मसत्ता से एक रूप हो रही है। स्वार्थ परमार्थ में, अपने सुख की कामना सबके हित की आकांक्षा में, वासना-तृष्णा-शांति-संतोष में परिवर्तित हो रहे हैं। आत्मवर्चस् असीम से एकाकार होकर ब्रह्मवर्चस् के रूप में बदल रहा है।

४. (क, ख) समापन शांति पाठ

दोनों ध्यान–धारणाओं का अंतिम चरण समापन शांति पाठ है। किसी लेख में 'उपसंहार' अनिवार्य माना जाता है। ध्यान धारणा की प्रस्तुत प्रक्रिया में समापन शांति पाठ का भी उतना ही महत्त्व है। इसे अनिवार्य महत्त्व देने के कई कारण हैं। एक तो ध्यान प्रयोग के दौरान साधक का भाव प्रवाह, उसकी संकल्प शक्ति बहुत प्रखर हो जाती है, चेतना अंतःकरण की गहराइयों में दूर तक प्रविष्ट हो जाती है। ध्यान की समाप्ति पर वह पुनः धीरे–धीरे लौकिक धरातल पर आती है। उस समय उसके प्रखर भाव प्रवाह एवं संकल्प को दिशाबद्ध रखना आवश्यक है। तेज चलती हुई कार में ब्रेक लगाते समय स्टियरिंग के संतुलन का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। यही स्थिति ध्यान प्रयोग के समापन के समय होती है। ध्यान प्रयोग के बाद समापन शांति पाठ उसी सावधानी एवं दिशाबद्धता की दृष्टि से आवश्यक है।

दूसरा कारण यह है कि साधक ध्यान प्रयोग में स्वयं को महत चेतना से जुड़ा हुआ अनुभव करता है, उसके दिव्य अनुदानों के मिलने की अनुभूति करता है। भाव समाधि से वापिसी पर, योगनिद्रा से जागने पर भी वह उसे अनुभव करता रहे, उसे पाता रहे, यह आवश्यक भी है और उपयोगी भी। समापन–शांति पाठ के समय साधक समाधि से शनैःशनैः जागता तो है ही, पर साथ में यह भी अनुभव करता है कि दिव्य–धाराएँ, दिव्यानुदान उसे उतनी ही प्रचुरता से मिल रहे हैं, मिलते रह सकते हैं, जितने कि भाव समाधि की अवस्था में।

एक बात और भी है—किसी सत् पुरुष अथवा सत्-शक्ति के निकट कुछ समय स्नेहपूर्वक बिता कर व्यक्ति जब उठता है तो अपनी श्रद्धा एवं सम्मान को व्यक्त करता है तथा उस समय उस सत्ता का स्नेह भरा आशीर्वाद विशेष रूप से उमड़ पड़ता है, जिसे पाकर व्यक्ति धन्य हो जाता है। ध्यान साधना की समाप्ति के समय इष्ट और साधक के बीच भी यह श्रद्धा एवं आशीर्वाद का आदान-प्रदान विशेष गहनता से चल पड़ता है। उसकी अनुभूति सारी ध्यान साधना से भी अधिक सरस तथा तृप्तिकारी होती है। श्रद्धाभिव्यक्ति एवं स्नेहामृत पान की यह प्रक्रिया कई साधकों के लिए तो समग्र ध्यान प्रयोग से भी अधिक रोचक एवं लाभप्रद सिद्ध होती है।

इसमें पहले 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' 'असतो मा सद्गमय' एवं 'मृत्योर्मा अमृतम्' गमय, का गंभीर उद्घोष होता है। हर साधक इसे अपने अंतःकरण से उठती हुई प्रार्थना माने। उद्घोष कई बार दुहरा-दुहरा कर किया जाता है। उसके साथ-साथ साधक क्रमशः अपनी सहजावस्था में भी आता है तथा इष्ट से यह प्रार्थना भी करता रहता है कि हमें प्रकाश की, सत् की, अमृतत्व की ओर बढ़ाते चलना। इससे जागृतावस्था का विकृत अहं नहीं उभर पाता तथा आत्मप्रगति का सशक्त संकल्प कमजोर नहीं होने पाता। इसे विदाई के समय की श्रद्धाभिव्यक्ति प्रार्थना कह सकते हैं।

उसके बाद पंच ओंकार का गुंजार किया जाता है। इसे परम सत्ता का, इष्ट का स्नेह आशीर्वाद-प्रसाद माना जाना चाहिए। 'ॐ' अक्षर ब्रह्म है। इस दिव्य गुंजार के साथ उसकी स्वर तरंगों के साथ अपने इष्ट, उपास्य, परम स्नेही के अनुदान, प्रेरणा प्रवाहों को आता हुआ अनुभव करना चाहिए। जैसे भक्त श्रद्धालु व्यक्ति चरणामृत, पंचामृत को बड़े चाव से लेता तथा बड़ी प्रसन्नता से पान करता है, वैसा ही भाव इस समय रहे। साधक शरीर की स्वाभाविक स्थिति में आता हुआ, गहरे श्वास-प्रश्वास लेता हुआ

यह अनुभव करे कि उसका रोम-रोम स्वर-तरंगों के साथ घुला हुआ अमृत पान कर रहा है, धन्य हो रहा है, सामर्थ्य और तृप्ति प्राप्त कर रहा है।

इस प्रकार समापन-शांति पाठ के साथ ध्यान-धारणा समाप्त की जाय। उसके बाद भी थोड़ी देर तक मौन रहने, शांत चित्त से टहलने, स्वाध्याय करने जैसी सौम्य-गंभीर क्रिया ही करनी चाहिए। उत्तेजना, उच्छृंखलता, हल्के हास-परिहास, भाग-दौड़ जैसे कार्यों का बचाव करना आवश्यक है। इस प्रकार ध्यान-धारणा के माध्यम से हर साधक सुनिश्चित एवं स्थाई लाभ प्राप्त करता रह सकता है।



मुद्रक : युग निर्माण प्रेस, मथुरा।